

सहजानंद शास्त्रमाला

मोक्षशास्त्र प्रवचन

सप्तम भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिग्म्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक 'मोक्षशास्त्र प्रवचन सप्तम भाग' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। इसमें मोक्षशास्त्र के सूत्र 11 से सूत्र 13 तक प्रवचन संकलित हैं।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishastra.org/> वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित करना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे। इसी ग्रन्थ की PDF फाइल <http://is.gd/varniji> पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हौरालाल दिग्म्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु डॉ. उदयजी मेहता सीएटल अमेरिका के द्वारा रु. 1500/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी राहिंज, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु श्रीमती मनोरमाजी जैन, गांधीनगर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छावड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9424414796

[Email-vikasnd@gmail.com](mailto>Email-vikasnd@gmail.com)

www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायीर्थं पूज्यं श्री मनोहरजी वर्णीं ‘सहजानन्द’ महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आत्मराम॥१॥
 मैं वह हूँ जो हैं भगवान्, जो मैं हूँ वह हैं भगवान्।
 अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान॥
 मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
 किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान॥
 सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूप दुःख की खान।
 निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान॥
 जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
 राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम॥
 होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
 दूर हटो परकृत परिणाम, ‘सहजानन्द’ रहूँ अभिराम॥
 अहिंसा परमोर्धर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ॥१॥
 हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
 हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन०, मैं सहजानंद०॥२॥
 हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर मैं मेरा कुछ काम नहीं।
 पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन०, मैं सहजा०॥३॥
 आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
 निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन०, मैं सहजा०॥४॥

Contents

प्रकाशकीय.....	2
आत्मकीर्तन.....	3
आत्म रमण	3
सूत्र 11.....	5
सूत्र 12.....	8
सूत्र 13.....	18

मोक्षशास्त्र प्रवचन सप्तम भाग

सूत्र 11

आद्ये परोक्षं ॥११॥

मति-श्रुतज्ञान की परोक्षज्ञानरूपता का वर्णन—आदि के दो ज्ञान परोक्षज्ञान हैं। आदि के दो ज्ञान हैं मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। ये दोनों ज्ञान परोक्षज्ञान कहलाते हैं। परोक्ष का अर्थ है—जो अक्ष से परावृत हो सो परोक्ष। अक्ष मायने आत्मा, उससे जो परावृत्त है, अभिमुख नहीं है अर्थात् इन्द्रिय और मन का निमित्त पाकर होता है वह परोक्षज्ञान कहलाता है। परा और अक्ष—इन दो शब्दों से यह व्युत्पत्ति हुई। अब धातु के रूप से व्युत्पत्ति इससे प्रकार है, पर और अक्ष, “परैः इन्द्रियादिभिः अक्ष्यते, सिंच्यते, अभिवर्घ्यते इति परोपेक्षम् ।” जो पर के द्वारा अर्थात् इन्द्रिय के द्वारा अक्षित हो, सींचा जाये, जो पुष्टि कर कर बढ़ाया जाये उसे कहते हैं परोक्षज्ञान। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में ये सब बातें पायी जाती हैं। इन्द्रियादिक के द्वारा यह उत्पन्न होता है और सींचा जाता है, पुष्ट किया जाता है। इससे इन दोनों ज्ञानों को परोक्षज्ञान कहते हैं। आद्य द्विवचन है अर्थात् पहले जो “मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्” यह सूत्र कहा है। उस सूत्र में प्रथम के दो ज्ञान, ये मतिज्ञान और श्रुतज्ञान हैं। यद्यपि इनमें मुख्यतया आदि तो मतिज्ञान है, पर जब आद्य में द्विवचन शब्द दिया तो उस आदि के निकट का जो ज्ञान है वह भी ग्रहण में आता है। इस तरह “आद्ये परोक्षं” इस सूत्र में मति, श्रुतज्ञान को परोक्ष बताया गया है। कोई ऐसा सोच सकता है कि केवलज्ञान की अपेक्षा तो चारों ही ज्ञान आद्य कहलाते हैं। तो ‘आद्य’ शब्द से यद्यपि चार ज्ञान आते हैं, फिर भी उन आद्यों में से आद्य ज्ञान दो हैं। चूँकि इन चार ज्ञानों में एक साथ रह सकने वाले दो ज्ञान मतिज्ञान, श्रुतज्ञान हैं, इस कारण ‘आद्ये’ शब्द से इस मतिश्रुत का ग्रहण होता है, परंतु ऐसा तर्क करना ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह से तो यह भी सोचा जा सकता कि मति की अपेक्षा तो श्रुत आदिरहित है, वह तो आदि में नहीं है। इस तरह तो श्रुतज्ञान का ग्रहण न हो, सकेगा, इसलिए एक साथ होता है। इस कारण ‘आद्ये’ शब्द से इन दो का ग्रहण किया गया, यह मुक्ति न दी जाये किन्तु समस्त ज्ञानों में आदि में ये दो ज्ञान लिखे गए हैं। सौ आद्ये शब्द कहकर इन दोनों ज्ञानों का ग्रहण किया जाता है।

व्याकरणरीति के अनुसार सूत्ररचना की निर्दोषता का विवरण—अब यहाँ कोई शङ्का कर सकता है कि जब आद्य में द्विवचन शब्द दिया है तो परोक्ष के लिए भी द्विवचन शब्द देना चाहिए “आद्ये परोक्षे” ऐसा सूत्र बनाना चाहिए क्योंकि उद्देश्य के समान उसकी विधेय में संख्या होनी चाहिए। यहाँ लिंग भी दोनों शब्दों का एक है और संख्या भी दोनों में एकसी ध्वनित की गई है। तो वचन भी अगर एकसा लग जाये तो अच्छी प्रकार से समानाधिकरण बन जाये अर्थात् दोनों का एकसा बर्ताव बन जायेगा। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यहाँ विधेय जो परोक्ष शब्द है उसका सम्बन्ध ज्ञानम् के साथ है, जो पहले मत्यादि सूत्र कहा गया है उसमें जो ज्ञान शब्द है उसकी ही अनुभूति आती है तब अर्थ बनता है—आद्ये परोक्षं ज्ञानं आदि के दो ज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं। वचनभेद भी हो तब भी समानाधिकरण माना जा सकता है, अर्थात् समान अधिकरण में दोनों

लाये जाते हैं। जैसे कोई उच्चारण करे—तपःश्रुते साधोः कार्यम्। तप और श्रुत ये दोनों साधु के कार्य हैं तो यहाँ उद्देश्य तो एकवचन है और विधेय द्विवचन है फिर भी दोनों का आधार साधु है। इसी प्रकार आद्ये द्विवचन है, परोक्ष एकवचन है, फिर भी दोनों का आधार एक ज्ञान है। अथवा जहाँ सिद्ध किया जा रहा वह है। यदि कोई हठ करे कि हमको तो 'परोक्षे' इस प्रकार द्विवचन शब्द कहना ठीक लगता हैं तो यदि सूत्र 'आद्ये परोक्षे' ऐसा बना दिया जाये तो भी उसे साथ प्रमाण अथवा ज्ञानम् शब्द कहना आवश्यक रहेगा ही तो इससे सूत्र और बढ़ गया। सूत्र का लाघव होना बुद्धिमानों में प्रशंसनीय कहा गया है। तो आद्ये परोक्षं कहने से ज्ञानम् अथवा प्रमाणं की अनुवृत्ति भी आयेगी। सूत्र लाघव हो गया। अतः जो सूत्रकार ने 'आद्ये परोक्षं' सूत्र कहा है वह बहुत युक्तिसंगत हैं।

आद्ये परोक्षं सूत्र में प्रमाणं और ज्ञान की अनुवृत्ति का लाभ—अब यहाँ कोई ऐसी शंका कर सकता है कि यहाँ प्रमाण अथवा ज्ञानम् की अनुवृत्ति करने से लाभ क्या है? क्या बात सिद्ध की जा रही है? तो उसका समाधान सुनो—सूत्र से तो इतना ही अर्थ होता है ना, कि आदि के दो परोक्ष हैं अथवा यों कह लीजिए कि आदि के दो ज्ञान परोक्ष हैं, मगर वे आदि के दो ज्ञान परोक्ष ज्ञान ही है, प्रमाण ही हैं, ऐसा निश्चय करने पर प्रमाण का लक्षण जो लोग अन्य-अन्य प्रकार से मान रहे थे उनका निराकरण हो जाता है। कोई तो अज्ञान को प्रमाण कहते थे कोई इन्द्रिय को, कोई सन्निकर्ष को, लेकिन इन जड़ पदार्थ को परोक्ष प्रमाण कह ही नहीं सकते हैं। और प्रमाण शब्द की अनुवृत्ति करने से यह सिद्ध होता है कि परोक्ष ज्ञान का प्रमाण है, अप्रमाण नहीं है। इस तरह सूत्र का अर्थ होता है—आद्ये ज्ञाने परोक्षं प्रमाणम्, आदि के दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं। आदि के दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं यहाँ। श्रुतज्ञान में तो श्रुतज्ञान ही आता है, परार्थानुमान अथवा आगम, किन्तु मतिज्ञान में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, स्वार्थानुमान तथा उनके और प्रभेद अवग्रह आदिक ये सब परोक्ष ज्ञान कहलाते हैं।

प्रत्यक्षज्ञान की तरह परोक्षज्ञान में भी निरालम्बता का अभाव—यहाँ क्षणिकवादी बौद्ध कह रहे हैं कि प्रमाण तो वास्तव में प्रत्यक्षज्ञान ही है, क्योंकि वह वास्तविक अर्थ को विषय करता है और तभी उसे स्पष्ट ज्ञान कहते हैं, किन्तु जो परोक्ष ज्ञान है, पदार्थ का स्पष्ट बोध नहीं करता है अथवा जब वस्तु का सम्बन्ध नहीं रहता उस समय परोक्षज्ञान बनता है। तो ऐसा यह अस्पष्ट परोक्षज्ञान वास्तविक अर्थ को विषय करने वाला नहीं है। जो वास्तविक अर्थ को विषय न करे वह विशद नहीं होता, निर्मल ज्ञान नहीं होता। जैसे कि खेल खेलता हुआ बालक अपने मन के अनुसार स्वांग रचता है, स्वांग में, कभी राजा सेनापति, मंत्री आदिक बनता है तो तदविषयक जो कुछ भी ज्ञान हो रहा, प्रत्यक्ष तो वह है नहीं स्पष्ट भी है नहीं तो वहाँ जो कुछ भी अस्पष्ट ज्ञान हो रहा है वह वास्तविक राजा आदिक को विषय तो नहीं कर रहा। ऐसे ही जितने भी अस्पष्ट ज्ञान होते हैं उन पदार्थों को विषय नहीं करते। इसी कारण अस्पष्ट ज्ञानों को निरालम्ब ज्ञान कहा है। तो परोक्ष कोई ज्ञान नहीं है, प्रमाण नहीं है। केवल एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है और उसके निकटवर्ती होने से गौणरूप से अनुमान को भी प्रमाण कहा जा सकता है, किन्तु यह वास्तविक ज्ञान नहीं है। उक्तं आशंका के समाधान में कहते हैं कि वास्तविक पदार्थ को विषय न करने से निरालंब अगर मान लिया जाये और यों परोक्षज्ञान को अप्रमाण कह दिया जाये तो इस तरह कभी-कभी प्रत्यक्ष भी तो निरालम्ब हो जाता है, वह भी अप्रमाण बन जायेगा।

जैसे आंख में कुछ अंगुली गड़ा लेने से चन्द्र दो या अनेक दिखने लगते हैं तो चन्द्र तो वास्तव में एक ही है, किन्तु दिखने लगे दो तो दो चन्द्रों का जो ज्ञान हुआ है उस ज्ञान को निरालम्ब ही तो कहेंगे। याने दो चंद्र नहीं हैं। यदि वहां बौद्ध यह उत्तर देने का प्रयास करें कि भले ही एक बार एक चन्द्र में दो दिख गए तो एक जगह प्रत्यक्ष से गड़बड़ी होने से सारे प्रत्यक्ष ज्ञान गड़बड़ तो नहीं कहे जा सकते। तो यहाँ भी यह ही उत्तर समझ लें। अविशदज्ञानों में एक मन के राज्य की बात अगर निरालम्ब हुई तो एक परोक्षज्ञान निरालम्ब हो गया तो सारे परोक्षज्ञानों को निरालम्ब नहीं कहा जा सकता। भ्रान्त ज्ञान प्रत्यक्ष में भी हो जाता, परोक्ष में भी हो जाता। कोई ज्ञान भ्रान्त रहे तो इससे सभी ज्ञानों को भ्रान्त मान लिया जाये, यह युक्त नहीं। अब यहाँ क्षणिकवादी अनुमान रखकर बोलते हैं कि सम्पूर्ण परोक्ष ज्ञान अनालम्ब हैं अर्थात् जानने योग्य विषयों से रहित हैं, क्योंकि वे अविशद रूप से जानते हैं। परोक्षज्ञान वास्तविक अपनी कल्पना में आये हुए राज्यादिक विभावों को स्पर्श भी नहीं करते, इस कारण कोई भी परोक्षज्ञान प्रमाण नहीं है। ऐसी आशंका होने पर समाधान दिया जाता है कि यों तो प्रत्यक्षज्ञान में भी कह सकते। प्रत्यक्षज्ञान अपने ग्राह्य अर्थ को विषय नहीं करता, क्योंकि स्पष्ट ज्ञान होने से। स्पष्ट ज्ञानों में कई ज्ञान ऐसे हैं कि जो ग्राह्य विषय का स्पर्श नहीं करते। जैसे सीप में चाँदी का ज्ञान हो गया, ज्ञान तो स्पष्ट हो गया आंखों से देखा, पर वहाँ चाँदी कहां है? ग्राह्य विषय तो नहीं है इससे प्रत्यक्षज्ञान भी सब अप्रमाण बन जायेगा। यदि यह उत्तर हो कि एक प्रत्यक्ष अगर अप्रमाण हो गया तो सारे प्रत्यक्ष तो अप्रमाण न हो जायेंगे। तो यही उत्तर इस प्रसंग में है कि यदि कोई परोक्षज्ञान अप्रमाण हो गया तो सारे परोक्षज्ञान अप्रमाण हो जायेंगे।

सर्वज्ञानों में सामान्यविशेषात्मक वस्तु की विषयभूतता—बौद्ध यहाँ ऐसा भी कह सकते कि भाई अनुमान प्रमाण द्वारा जो कि परोक्षज्ञान है उससे अवस्तुभूत सामान्य ही जाना जाता। सामान्य जानकर फिर चूंकि सामान्य का विशेष अर्थ के साथ सम्बन्ध हो जाता है, इसलिए अनुमान से अर्थ में प्रवृत्ति बन जाती है। और जब-जब अर्थ में प्रवृत्ति बने तब-तब उस ज्ञान को प्रमाण कहा जाता है। तो अनुमान अस्पष्ट होते हुए भी ग्राह्य अर्थ से सहित परम्परा से बना। इस विषय में उत्तर यह है कि न केवल सामान्य कोई वस्तु है, न केवल विशेष वस्तु है। जब पदार्थ जाना जाता है तो सामान्यविशेषात्मक ही पदार्थ जाना जाता है। अनुमान प्रमाण से जब गुणपर्याय है तो सीधा ही उस वस्तु को प्राप्त करता है और अर्थक्रिया भी बन जाती है। तो अनुमान प्रमाण ग्राह्य अर्थ से रहित नहीं है। हां उसे अगर परम्परा से सम्बन्ध बनाकर उसका विषय अवस्तु साबित करें, जैसे कि अनुमान से जाना सामान्य, सामान्य का सम्बन्ध है विशेष से यों अनुमान अर्थग्राही बना, ऐसा यदि कहा जाये तो जब कभी मणिप्रभा में मणि का ज्ञान होता तो वह भी प्रमाण ज्ञान होना चाहिए। किसी संदूक में मणि रखी हो, प्रभा फैल रही हैं, उसमें एक छोटासा छिद्र है, उस छिद्र में दूर से प्रभा झलक रही है तो उतनी प्रभा का प्रत्यक्ष तो कर लो, पर ग्राह्य अर्थ कहाँ है? वह तो प्रभा है, मणि नहीं है। तो ऐसी अनेक अनिष्ट बातें प्रत्यक्षज्ञान में भी हो जायेंगी। मणिप्रभा में होने वाला मणिज्ञान यदि अनुमान प्रमाण माना जायेगा, उसे प्रत्यक्ष न मानेंगे। तब तो अर्थ की प्राप्ति से अनुमान में प्रमाणपना आता है, ऐसी व्यवस्था न। बन सकेगी और उस व्यवस्था के बनाने में कोई दृष्टान्त भी न मिल सकेगा। अर्थ की प्राप्ति से अनुमान प्रमाण बनता है। इसमें मणिज्ञान दृष्टान्त नहीं बन सकता। क्योंकि वह दृष्टान्त साध्य से रहित है, क्योंकि वहाँ अर्थप्राप्ति नहीं है। मणि की प्रभा में जो

मणि का ज्ञान बना वह प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, क्योंकि मणि तो हाथ न लगी, फिर स्थूल दोष है यह कि क्षणिकवादी पदार्थों को क्षणवर्ती मानते हैं। वहाँ पहले क्षण में तो जाना, दूसरे क्षण में अभिलाषा हुई, तीसरे क्षण में प्रवृत्ति की, चौथे क्षण में चौज पायी गई, तो ऐसी क्रिया क्षणिक ज्ञान से होना असम्भव है।

देखो पहले भी ज्ञान हुए, मगर वहाँ अर्थप्राप्ति तो नहीं है। अर्थप्राप्ति तो तब मानते हैं क्षणिकवादी जब कि अर्थ का विनाश हो जाता है। तो जैसे अर्थ के अभाव में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं होता और उसे इस कारण प्रमाण माना जाता, इसी तरह अर्थ के अभाव में अनुमान प्रमाण भी नहीं होता। इस विधि से अनुमान भी प्रमाण माना जाता। यदि क्षणिकवादी यह कहें कि अनुमान प्रमाण भले ही अवस्तुभूत सामान्य को ग्रहण करता, परन्तु वह अर्थ की प्राप्ति करा देगा तो यह तो बड़े पक्षपात की बात हो गई। अरे अवस्तु को तो विषय करे कोई ज्ञान और अवस्तु को प्राप्त करा दे, यह कैसे सम्भव हो सकता है? सभी वस्तुवें सामान्यविशेषात्मक हैं। तो प्रत्यक्ष सामान्यविशेषात्मक वस्तु को जानता है और अनुमान भी जानता है। हाँ जब यह सिद्ध हुआ कि स्मृति आदिक श्रुतज्ञान पर्यन्त सभी ज्ञान अस्पष्ट कहलाते हैं, फिर भी अपना और ग्राह्य अर्थ का आलम्बन सबमें मौजूद है। यदि अर्थग्राही न माना जाय स्मरण आदिक को तो अटपट बोध होने लगेगा, स्मरण कुछ किया जायेगा चौज कुछ होगी, लेकिन व्यवस्था सही देखी जाती है। उस स्मरणज्ञान में जिसका स्मरण किया जाता वही विदित होता। सो सभी ज्ञानों में जिस-जिस अर्थ का विषय होता वह-वह ज्ञान उस-उस अर्थ की प्राप्ति करने वाला होता है।

“आद्ये परोक्ष” सूत्र के निर्दोष अर्थ का उपसंहार—इस सूत्र का अर्थ यह बना कि आदि के दो ज्ञान याने मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं। परोक्षज्ञान अप्रमाण नहीं होता। परोक्ष का निराकरण कैसे करें? जिन दार्शनिकों ने परोक्षज्ञान का निराकरण किया है वे संगत बुद्धि नहीं रखते। प्राप्य और आलम्बन दो कारण मानना व्यर्थ है। अर्थ का ज्ञान करा देना ही प्राप्त करना कहलाता है। उस चौज को हम हाथ में ले सकें या न ले सकें उससे ज्ञान की प्रमाणता अप्रमाणता निर्भर नहीं है, किन्तु पदार्थ का सही ज्ञान करा दे यहीं तो कहलाता है आलम्बन और यहीं कहलाता है प्राप्ति, इससे विषय को ज्ञान का आलम्बन, कारण, भले ही मान लें, किन्तु प्राप्ति का अर्थ इससे अत्यन्त विलक्षण नहीं है। जैसे कि कोई चन्द्रमा वृक्ष के सहारे से दिखाया जाता कि देखो इस वृक्ष के पास से चन्द्रमा है, तो आलम्बन ही तो रहा और ऐसे अविशदरूप से पदार्थ का आलम्बन परोक्षज्ञान में है, सो उस पदार्थ का ज्ञान करा दिया बस यहीं प्राप्ति है और इसी से ही ज्ञान में प्रमाणता आती है। यों आदि के दो ज्ञान परोक्ष हैं, यह बात युक्तिपूर्वक सिद्ध हो जाती है। अब द्वितीय प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण के सम्बन्ध में विवरण करते हैं।

सूत्र 12

प्रत्यक्षमन्यत् ॥१२॥

सूत्रोक्त शब्दों के एकवचनान्त प्रयोग होने की समझसत्ता—अन्यत् प्रत्यक्षं अर्थात् परोक्ष के सिवाय अन्य ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अन्य ज्ञान कौन हुए? अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। ये तीन ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण

हैं, यहाँ एक आशंका होती है कि जब तीन ज्ञान हैं यहाँ तो ऐसा सूत्र बनाना चाहिए कि प्रत्यक्षाणि अन्यानि, क्योंकि तीन ज्ञान होने से बहुवचन होना ठीक है। इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि यहाँ अन्यत् शब्द से ज्ञान का ग्रहण होता है। जो ज्ञान पहले सूत्र में एकवचन शब्द से कहा गया था— मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानं, उस ही ज्ञान शब्द के ऊपर यह सूत्र रखा गया है। वही ज्ञान शब्द प्रत्येक में अन्वित होता है। तो अन्वित अन्यत् ज्ञानं अर्थात् अन्य ज्ञान और प्रत्यक्षं के साथ प्रमाणं एकवचन शब्द की अनुवृत्ति होती है। इस कारण यह अर्थ हुआ कि परोक्ष से अन्य बचा हुआ अवधि, मनःपर्यय, केवल—इन तीन अवयवों का जो समुदाय है, ज्ञान हैं वह प्रत्यक्ष है। इस कारण उमास्वामी महाराज ने जो सूत्र कहा है वह व्याकरण से पूर्णतया संगत है। जाति की अपेक्षा एकवचन बोलने की सर्वत्र प्रसिद्धि भी है। जैसे गेहूं सस्ता है, चावल तेज है तो यद्यपि कोई एक गेहूं के दाने की बात तो नहीं होती। है बहुत से गेहुंवों की बात, मगर जाति अपेक्षा एकवचन हो जाता है। इसी प्रकार 'ज्ञानं' जाति की अपेक्षा एकवचन होने में कोई विरोध नहीं है। इसी प्रकार प्रत्यक्षं इसके साथ प्रमाणं की अनुवृत्ति है तो यह भी एकवचन में ठीक है। कोई यहाँ ऐसा सोच सकता है कि इससे पहले सूत्र में फिर 'आद्ये' शब्द कहकर द्विवचन क्यों बनाया? वहाँ भी एक ही वचन कहते। तो वहाँ एक यह आपत्ति आती थी कि यदि एकवचन कहते तो आदि का केवल एक मतिज्ञान ही ग्रहण में आता और मति, श्रुत दोनों लेने हैं अन्यथा दो दोष है। श्रुतज्ञान परोक्ष नहीं रहता और इस सूत्र के आने से प्रत्यक्ष बन जाता, इस कारण जुदे कोई प्रामाणादिक की अपेक्षा एकवचन दिया वह ठीक है।

सूत्रोक्त पद और पदानुवर्तन से दर्शन व मिथ्याज्ञानों में प्रमाणत्व का निरसन करते हुए प्रत्यक्ष के स्वरूप का प्रकाशन—इस सूत्र में अन्यत् ज्ञानं अर्थात् अन्य ज्ञान ऐसा कहने के कारण अवधिदर्शन व केवलदर्शन ग्रहण न किया जायेगा, क्योंकि वह दर्शन है। यह ज्ञान का प्रकरण है और प्रत्यक्षं के साथ प्रमाणं कहा है तो प्रमाण के सम्बन्ध में यह सिद्ध होता है कि अवधि आदिक अप्रमाण नहीं हैं, किन्तु प्रमाण हैं। साथ ही यह सम्यक् का प्रकरण है और सम्यक्पद का अधिकार चला आने से कुअवधिज्ञान का भी निवारण हो जाता है और प्रत्यक्षं शब्द कहने से यह परोक्ष नहीं है, ऐसा दृढ़ निर्णय हो जाता है। इस प्रकार इन शब्दों की रचना में यह बात स्पष्ट ध्वनित हो गयी कि शेष के तीन ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाते हैं। प्रत्यक्ष उसे कहते हैं जो आत्मा का आश्रय लेकर उत्पन्न हो। यद्यपि आत्मा का आश्रय सभी ज्ञानों में होता है, लेकिन जहाँ आत्मा से भिन्न इन्द्रिय और मन की भी अपेक्षा होती है उसे केवल आत्मा से उत्पन्न हुआ नहीं कहा जाता। वह परोक्ष ज्ञान है जो इन्द्रिय के द्वारा सिंचित होता है। प्रत्यक्ष की व्युत्पत्ति है अक्षं आत्मानं प्रतीत्य उत्पद्यते इति प्रत्यक्षं। प्रत्यक्ष का लक्षण अकलंकदेव ने यह स्पष्ट किया है कि जो स्पष्ट है, साकार है, सम्यक् है और द्रव्यपर्याय सामान्य विशेषात्मक अर्थ और स्वयं अपने को जानने वाला है वह प्रत्यक्ष कहलाता है। इस प्रत्यक्ष के लक्षण में मुख्यता है द्रव्यस्वरूप अर्थ और स्वयं अपना वेदन करने की अर्थात् जो द्रव्यस्वरूप अर्थ और अपने आत्मा का जो वेदन करता है सो प्रत्यक्ष है। शेष तो इसके साथ विशेषणरूप से है, जिन विशेषणों का होना भी अनिवार्य है। अब यहाँ यदि प्रधान रूप से कहा जाये कि द्रव्य स्वयं अर्थ वह स्वयं अपना वेदन करे सो प्रत्यक्ष है, तब तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये गर्भित हो ही नहीं सकते, क्योंकि इस प्रकार का स्पष्ट वेदन मतिज्ञान श्रुतज्ञान में नहीं है। हाँ यदि गौणरूप से द्रव्यस्वरूप अर्थात् वेदन कहा जाये तो वहाँ व्यवहारनय से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आ

सकता है और इसी कारण उन्हें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है मतिज्ञान को । तो भले ही मतिज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष रहे किन्तु यहाँ तो प्रधानरूप से प्रत्यक्ष के लक्षण का वर्णन है, इस कारण सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष नहीं कहते, क्योंकि परोक्ष है । स्मृति आदिक भी मतिज्ञान है और श्रुतज्ञान तो सम्पूर्ण रूप से अस्पष्ट है, इस कारण मतिज्ञान प्रत्यक्ष है ही नहीं । अब प्रत्यक्ष के लक्षण में जो साकार विशेषण दिया है याने जो साकार वेदन है वह है प्रत्यक्ष याने द्रव्यार्थ आत्मवेदन जहाँ स्पष्ट और साकार है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है । तो साकार शब्द के देने से दर्शन का निवारण हो गया, अर्थात् अवधिदर्शन और केवलदर्शन, ये प्रत्यक्षज्ञान नहीं हैं, क्योंकि वे निराकार हैं । अंजसा, यह विशेषण देने से सम्यक्पद का अधिकार बनता है, इस कारण विभंगज्ञान (कुअवधिज्ञान) का निवारण हो जाता है । इस प्रकार जो द्रव्यादि विषयक है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

केवलज्ञान में सकलप्रत्यक्षत्व का दिग्दर्शन—यहाँ इस प्रत्यक्ष के लक्षण में केवलज्ञान भले प्रकार सिद्ध होता है, क्योंकि केवलज्ञान तो पूर्णतया स्पष्ट है । ज्ञेयाकार अनिवारित होने से साकार है, सम्यक् है और एक साथ ही समस्त द्रव्यों का जाननहार । संपूर्णरूप से पदार्थों को जानने के कारण अधिक पूज्य पुरुषों ने यह केवलज्ञान प्रत्यक्ष तो एक आदर्श और अवर्णनीय है । यह केवलज्ञान क्रम से अर्थ को नहीं जानता, किन्तु एक साथ ही समस्त सत् इसमें प्रतिभासित होते हैं । इन्द्रिय मन आदिक करणों से भी अतिक्रान्त है । इन्द्रिय मन उनके हैं ही नहीं, अथवा उनकी अपेक्षा होती ही नहीं । यह केवलज्ञान निर्दोष है और समस्त कर्म कलंकों से रहित है । ऐसा प्रत्यक्षज्ञान अथवा सर्वज्ञान की सिद्धि इस तरह होती है कि ऐसा यह योगियों का प्रत्यक्ष अव्यवस्थित है, क्योंकि इसमें बाधक कारणों का अभाव है । जैसे कि जब स्वयं को प्रत्यक्ष जानने में जो स्वसम्बेदन होता है उसमें बाधक कारण नहीं है, अतएव प्रत्यक्ष है, इसी प्रकार केवलज्ञान की सिद्धि का कोई बाधक कारण नहीं है । प्रत्यक्ष प्रमाण सामान्यरूप से सिद्ध किया ही गया है—ऐसा उसमें कसी को विवाद नहीं । उस प्रत्यक्ष प्रमाण के सम्बन्ध में यह बताया जा रहा है कि यह योगियों का प्रत्यक्ष तो परमयोगी जिनको केवलज्ञान एक साथ समस्त पदार्थों को विषय करता है,, क्रमरहित है और इन्द्रिय के आधीन नहीं है । इसका कारण यह है कि जब समस्त कर्मकलंक दूर हो गए, निर्दोषता प्रकट हो गई तो अब यह पराधीन नहीं रह सकता, अतएव एक साथ समस्त सत् को विषय करेगा । कोई इसमें कलंक होता ही नहीं है, क्योंकि कलंक तो पर-उपाधि है । जहाँ पर-उपाधि लगी हुई है वहाँ कभी पर-उपाधि न रहे, क्या यह भी होता है ? तो जब सम्पूर्ण ज्ञानावरण का सदा के लिए क्षय हो गया, तो केवलज्ञान तो सूर्य के समान एकदम पूर्ण स्पष्ट होता हुआ समस्त पदार्थों को विषय करने वाला होता है । चूंकि कर्मकलंक न रहे, इस कारण वह ज्ञान एक साथ ही समस्त पदार्थों को जानने वाला होता है । चूंकि कर्मकलंक नहीं रहे, इस कारण उस ज्ञान को अब इन्द्रिय और मन की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती । इस प्रकार सर्वज्ञ का प्रत्यक्षज्ञान क्रमरहित है, एक साथ सबको जानता है । इन्द्रिय की आधीनता नहीं है ।

प्रत्यक्ष ज्ञानों में प्रत्यक्षत्व की सिद्धि की निर्वाधिता—यदि कोई यह कहे कि प्रत्यक्ष ज्ञान से तो कोई सर्वज्ञ दिखता ही नहीं है, तब तो बाधक प्रमाण अपने आप आ गया । ऐसी शङ्का करने वाले जरा यह सोचें कि इस देश और इस काल में क्या सर्वज्ञ परमात्मा नहीं दिखता? इस कारण सर्वज्ञ का अभाव है या सब देश, सब

काल में सर्वज्ञ नहीं है, इस कारण सर्वज्ञ का अभाव है। यदि कहो कि इस देश में, इस काल में नहीं है तो ठीक है। यहाँ नहीं है। यहाँ न होने से सब जगह का अभाव तो नहीं सिद्ध हो सकता? अरे यदि कहो कि सभी देश और सभी कालों में नहीं है तो क्या तुमने यह परख लिया कि सब देशों में सर्वज्ञ नहीं है? अगर तुमने सब देश जान लिया और सब काल जान लिया तो तुम ही सर्वज्ञ हो गए। और सर्वज्ञ का प्रमाण अपना अनुभव बता सकता है, क्योंकि ज्ञान की ऐसी कला है कि वह निरन्तर सत् पदार्थ को जानता ही रहे? अब उसमें क्रम उत्पन्न करने वाले कलंक और इन्द्रियां जब जीवित हैं तब ज्ञान की एक दुर्दशा होती है। और जहाँ उपाधि नहीं है, आवरण नहीं है, वहाँ फिर क्या वजह है कि ज्ञान पदार्थों को क्रम से जाने या थोड़ा जाने। सकल प्रत्यक्षज्ञान परमयोगी जनों के होता है और वह समस्त सत् को एक साथ जानने वाला है। वह केवलज्ञान तो सम्पूर्ण प्रत्यक्ष है और अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान एकदेश प्रत्यक्ष है, क्योंकि अवधिज्ञान जीव की न अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम है, क्षय नहीं है। क्षयोपशम में यह होता है कि सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय व उन्हीं उपशम ओर देशघाती स्पर्धकों का उदय तो चूंकि क्षयोपशम में उदय भी चलता है, इस कारण से सम्पूर्ण ज्ञान नहीं बन सकता। तो अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान—ये दो तो एकदेश प्रत्यक्ष हैं, किन्तु केवलज्ञान सर्वदेश प्रत्यक्ष है।

मात्र-आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान का लक्षण स्वीकार न करने वाले शंकाकार द्वारा अभिमत कल्पनापोढ़ लक्षण की मीमांसा—यहाँ क्षणिकवादी आशंका करते हैं कि प्रत्यक्ष का लक्षण जो यह कहा है कि जो आत्मा का आलम्बन लेकर ज्ञान हो सो प्रत्यक्ष है। यह लक्षण दुरुह है। प्रत्यक्ष का लक्षण तो यह है कि जो कल्पना से रहित है, और जो भ्रान्ति से रहित है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। ऐसी आशंका करने वाले यह बतायें कि कल्पना का अर्थ क्या मानते हो? क्या कल्पना का अर्थ यह है कि जो अस्पष्ट रूप प्रतीति है सो काल्पनिक है अथवा कल्पना का अर्थ यह है कि जो स्व और अर्थ का निश्चय करे सो काल्पनिक है अथवा क्या कल्पना का यह अर्थ है कि जो शब्दयोजना से सहित होकर ज्ञान बने सो कल्पना है अथवा क्या कल्पना का यह अर्थ है कि शब्द का संसर्ग हो सके इस योग्य जो प्रतिभास हो सो कल्पना है। इन चार प्रकार के विकल्पों में से जो प्रथम दो विकल्प हैं कि अस्पष्ट प्रतीति होना सो कल्पना है अथवा स्व और पदार्थ का निश्चित होना सो कल्पना है। इस लक्षण में यह विसम्बाद न बनेगा, पर इन लक्षणों को न कहकर और-और प्रकार के लक्षण कहे जाये, जैसे जो शब्दयोजना से सहित ज्ञान है सो कल्पना है अथवा शब्द संसर्ग योग्य जो प्रतिभास है सो कल्पना है या वस्तु स्पर्शन न करने वाली जो जानकारी है सो कल्पना है आदिक अन्य-अन्य विरुद्ध लक्षणों को बताये तो वह विवेक नहीं है। क्षणिकवादियों ने स्वयं यह मानो है कि जो कल्पना से घिरे हुए अर्थ का स्पष्ट प्रतिभास नहीं हो पाता, इससे ही स्पष्ट है कि कल्पना कोई भी स्पष्ट नहीं हुआ करती। तो यही बात बन गई कि जो अस्पष्ट प्रतीति है सो कल्पना है।

प्रत्यक्ष को अस्पष्टप्रतीतिलक्षणात्मक कल्पना से अपोढ़ मानने में सिद्धसाधनता—यदि इस प्रमाण में कोई पक्षपाती यह कहे कि अस्पष्ट ज्ञान का नाम कल्पना नहीं है, क्योंकि स्वप्न में भी होती तो है कल्पना, मगर स्पष्ट प्रतीति होती हुई होती है। तब यह बात न रही कि जो भी कल्पना होती है वह अस्पष्ट प्रतिभास वाली होती है। देखो स्वप्न में कल्पना तो बन गई, पर स्पष्ट प्रतिभास चल रहा। इसके समाधान में यह समझना

चाहिए कि स्वप्न में जो जानकारी हो रही उसे तो शंकाकार ने इन्द्रियजन्य ज्ञान माना है, और जब इन्द्रियजन्य ज्ञान माना है तो प्रत्यक्ष हो गया। फिर अस्पष्ट प्रतिभास का नाम कल्पना है—इस लक्षण में अव्यासि दोष क्यों दिया जा रहा? वह तो कल्पना ही नहीं है। जो स्वप्न में हुई उसे तो बौद्ध इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष मानते हैं और उनको इस तरह प्रत्यक्ष मानते हैं कि सोने से पहले जागृत अवस्था में जो इन्द्रिय का व्यापार चल रहा था उसके ही अनुकरण में यह कल्पना बनाता है। तो यों बौद्धमतानुसार स्वप्न में होने वाली जानकारी जो स्पष्ट चल रही है वह निर्विकल्प प्रत्यक्ष बना, तब यह सिद्ध हुआ कि कल्पना का यही लक्षण ठीक है कि जो स्पष्ट प्रतीति हो सो कल्पना है। यहाँ शंकाकार कहते हैं कि अस्पष्ट प्रतीति कल्पना है—इस लक्षण में अव्यासि दोष है। देखो कहीं बालू का रेत हो या फूला हुआ काँस हो उसको देखकर लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि यह जल है। तो उस मरीचिका में जल की कल्पना हुई है और स्पष्ट ज्ञान चल रहा है। तो कल्पना में भी स्पष्टता तो आ ही गई। इसके समाधान में यह समझना कि वहाँ जल का ज्ञान स्वयं स्पष्ट नहीं है। बात यह हुई है कि चक्षुइन्द्रिय से जो जाना गया पदार्थ है उसमें जो जलज्ञान हो रहा है जो स्पष्टता चल रही, उसका जलज्ञान में आरोप कर दिया गया, और यों वह स्पष्ट प्रतिभास माना जाने लगा। वस्तुतः तो वह अस्पष्ट ज्ञान है, इस कारण स्पष्ट प्रतीति कल्पना है। इस लक्षण में कोई दोष नहीं आता और न इस लक्षण में अतिव्यासि दोष होता है, क्योंकि कोई भी कल्पना ऐसी नहीं जिसमें अस्पष्टता न हो। अब यहाँ बौद्ध शंका करते हैं कि देखो जब दूर से वृक्ष, घर, मनुष्य आदिक कुछ देखे जाते हैं तो है तो कल्पनारहित ज्ञान, समीचीन ज्ञान है, मगर वहाँ भी अस्पष्टता तो देखी जा रही है। तो कल्पनारहित समीचीन ज्ञान में जब अस्पष्ट देखा जा रहा है तो कल्पना का लक्षण अस्पष्ट प्रतिभास करना सही तो न बना। समाधान में कहते हैं कि बात वहाँ यह है कि दूर से देखकर जो प्रत्यक्ष ज्ञान हो उस प्रत्यक्षज्ञान में जो झूठा विकल्पज्ञान है उसकी अस्पष्टता के साथ इस ज्ञान को एकत्र का आरोप किया गया है याने इन्द्रिय से जितना जाना उतना तो वह स्पष्ट है। अब उसके आगे जो जाना जा रहा कि इतना बड़ा, इतना लम्बा, इतना छोटा वह विकल्पज्ञान की अस्पष्टता है। तो विकल्पज्ञान की अस्पष्टता का प्रत्यक्ष के साथ एकत्र का आरोप हुआ है, इसलिए वह प्रत्यक्ष अस्पष्ट प्रतीत हो रहा है। और इस कारण कल्पना के लक्षण में अतिव्यासि दोष नहीं आया। यदि कल्पनारहित ज्ञान में अस्पष्टता का अभाव हो, तब ही तो दोष आयेगा। इससे कल्पना का अन्य-अन्य लक्षण न कहकर यह लक्षण कर लेना चाहिए कि जो अस्पष्ट प्रतीति है, सो कल्पना है।

स्वपरनिश्चयाकलक्षणात्मक कल्पना से रहित को प्रत्यक्ष मानने में असतप्रलाप की स्पष्टता—कल्पना दूसरे लक्षण पर विचार करें। जो द्वितीय विकल्प में कहा गया था कि अपना और पदार्थ का निश्चय करने का नाम कल्पना है, और ऐसा कल्पना से रहित जो ज्ञान होगा वह प्रत्यक्ष है। ऐसा प्रत्यक्ष का लक्षण करना बिल्कुल सदोष हो गया। जो यह लक्षण किया जा रहा कि कल्पना से रहित ज्ञान प्रत्यक्ष होता, और ऐसा कल्पना से रहित बना रहे हो कि जहाँ स्व और पदार्थ का निश्चय हो, उससे रहित ज्ञान है तो स्वार्थ निश्चय से रहित ज्ञान प्रमाण ही नहीं हो सकता, सो प्रत्यक्ष के लक्षण में जो ४ विकल्प पूछे गए थे उनमें से अगर पहले प्रकार के लक्षण वाले कल्पना से रहित को प्रत्यक्ष मानते हो तो यह सिद्ध ही है, उसमें कोई दोष नहीं है, अर्थात् अस्पष्ट

प्रतीति से रहित ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है, सो युक्त ही है। प्रत्यक्षत ज्ञान स्पष्ट प्रतिभासी होता है, और उसमें अस्पष्ट प्रतीति रहितता का अभाव है।

देखिये प्रतीति दोनों प्रकार से होती है, किसी पदार्थ का ज्ञान स्पष्ट प्रतीति सहित, है और किसी पदार्थ का ज्ञान अस्पष्ट प्रतिभास सहित है! अगर अस्पष्ट प्रतिभास वाली प्रतीति न मानी जाये तब बौद्ध ही स्वयं यह बतायें कि प्रत्यक्ष में और अनुमान आदिक में भेद ग्रहण किस विधि से किया जा सकता है? प्रत्यक्ष अनुमान से भिन्न प्रमाण है, यह इसी बल पर ही जाना जाता है कि प्रत्यक्ष तो होता स्पष्टप्रतिभासरूप और अनुमान होता है अस्पष्टप्रतिभासरूप। इससे अस्पष्ट प्रतीति का नाम कल्पना है, यह बात युक्त है और ऐसा कल्पना से रहित ज्ञान प्रत्यक्ष होता है वह भी युक्त है। अब द्वितीय विकल्प वाले कल्पना के लक्षण पर विचार करें। इस द्वितीय विकल्प में यह कहा है कि जो स्व और अर्थ का निर्णय करे उसको कल्पना कहते हैं। सो यह बात तो सही है, किन्तु ऐसा कल्पना से रहित ज्ञान को अगर प्रत्यक्षज्ञान मानते तो असम्भव है क्योंकि स्व और अर्थ के निश्चय से रहित कोई भी ज्ञान नहीं होता, न प्रमाण होता है, अर्थात् जो भी ज्ञान होगा, प्रमाण होगा, वह निर्णयक ही होता है। जैसे अस्पष्ट प्रतीति कल्पना है और ऐसी कल्पना से रहित प्रत्यक्ष है, यह लक्षण सही है ऐसे ही स्व और अर्थ का निश्चय करने वाला ज्ञान कल्पना है, यह भी सही तो है, किन्तु ऐसी कल्पना प्रत्येक ज्ञान का प्राण है।

अस्पष्ट और स्पष्टप्रतीति की अप्रत्यक्षता व प्रत्यक्षता का पुनः ईक्षण—जो यह बात कही थी कि अत्यन्त दूर रहने वाले वृक्ष आदिक में अस्पष्ट ज्ञान होता है तो वह तो प्रत्यक्ष ही है, वहाँ जो चक्षु से जाना वह स्पष्ट है। तो इस बारे में जो कल्पना की, वह स्पष्ट है। यहाँ ऐसा भी उत्तर नहीं बन सकता कि दूरवर्ती वृक्ष का ज्ञान श्रुतज्ञान होगा, प्रत्यक्ष न होगा, यह बात यों नहीं की जा सकती कि वह तो सीधा इन्द्रियजन्य ज्ञान है। मतिज्ञान से जाने गए पदार्थ के साथ संसर्ग रखने वाले अन्य पदार्थों की जो तर्कणा है वह श्रुतज्ञान है। तो श्रुतज्ञान तो अस्पष्ट हुआ, सविकल्प हुआ, पर जितने प्रत्यक्ष ज्ञान हैं वे अस्पष्ट नहीं होते, स्पष्ट ही होते, और निर्विकल्प नहीं होते। दूसरी बात यह है कि अस्पष्ट रूप से जो विचार करने वाले ज्ञान हैं उन सबको श्रुतज्ञान कहना युक्त नहीं है। जो-जो अस्पष्ट रूप से ज्ञान करे वह सब श्रुतज्ञान है, यह कहना ठीक नहीं। स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, व्याप्तिज्ञान—ये, अस्पष्ट हैं तो भी श्रुतज्ञान नहीं है।

स्व और अर्थ के निश्चयरूप कल्पना से रहितपने की प्रत्यक्षज्ञान में व सभी ज्ञानों में असंभवता—यहाँ शङ्काकार आशंका करते हैं कि हम स्पष्ट प्रतीति को कल्पना नहीं कहते और ऐसे कल्पना से रहित को प्रत्यक्ष नहीं कहते। ऐसा माने तो सिद्ध साधन है। यहाँ तो यह कहते हैं कि जितनी भी कल्पनायें होती हैं वे स्व और पदार्थ का निर्णय करने वाली होती हैं, निर्विकल्प प्रत्यक्ष के समय निर्णय नहीं है, क्योंकि जब निर्विकल्प प्रत्यक्ष है तब पदार्थ का सद्भाव है और जब उस पदार्थ के बार में निर्णय बनता है उस समय पदार्थ रहता नहीं क्योंकि पदार्थ एक, क्षण को रहकर ही नष्ट हो जाता है। तो जो पदार्थ को न छुवें और और ज्ञान बने वह सब सविकल्प ज्ञान है, कल्पना है?

इसके समाधान में कहते हैं कि स्व और अर्थ का निश्चय करने वाले ज्ञान को कल्पना कहेंगे, पर ऐसे कल्पना से रहित ज्ञान को प्रत्यक्ष कहेंगे तो यह बिल्कुल असम्भव है, क्योंकि स्वार्थ निश्चयरूप कल्पना से रहित कोई

ज्ञान नहीं कहलाता। यदि कोई ज्ञान ऐसा भी हो कि सम्पूर्ण विकल्प से पृथक् है उस अवस्था में भी सभी प्रकार के व्यवसायों से रहित हो तो भी स्वसम्बेद्य तो हो ही रहा है, इसलिए स्व और अर्थ के निश्चय से रहित कोई भी ज्ञान नहीं बनता। ऐसा सोचना कि जिसमें विकल्प न उठे वह ज्ञान प्रत्यक्ष है सो आपेक्षिक ढंग से तो कह सकते हों, किन्तु ऐसा कोई ज्ञान नहीं जहाँ विकल्प नहीं है याने स्व अर्थ का निर्णय नहीं है। सब ओर से चित्त को हटा भी लिया गया और वह बहुत शान्त स्थिति में है, अन्तरङ्ग आत्मा से स्थित बन रहा है, फिर भी चक्षु के द्वारा अपने ज्ञान को भीतर में स्पष्ट निर्णीत कर रहा और रूपमात्र को भी स्पष्ट निर्णीत कर रहा है। तो संकल्प-विकल्प से रहित अवस्था में और भी अधिक स्पष्ट निर्णय होता है, इसलिए स्वार्थ निर्णय से रहित है प्रत्यक्षज्ञान—यह कहना अत्यन्त असंगत है और फिर यह भी सोचिये कि प्रत्यक्षज्ञान कल्पना से रहित है, यह प्रत्यक्ष से तो सिद्ध होता नहीं और अनुमान से भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि पहले जब बार-बार विकल्प किया हो जीव ने तो उन विकल्पों को करता हुआ ही तो अनुमान कर पाता है, इन्द्रियजन्य ज्ञान की प्रत्यक्षता के निर्णय में कि पहले जब इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष हुआ था तब भी कुछ स्व अर्थ निर्णय हो चुका था तब ही तो उसके स्मरण में विकल्प बन रहा है।

किसी भी पदार्थ का स्मरण तब ही तो होता है जब पहले जाना हुआ हो। निर्विकल्प ज्ञान से जो जाना था उसके विषय में दूसरे क्षण जो स्वार्थ निर्णयरूप विकल्प होता है वह तब ही तो हुआ जब कुछ निर्णय का पहले भी भान हो। तो कोरा निर्विकल्प ज्ञान प्रत्यक्ष है, इस बात की सिद्धि अनुमान से भी नहीं बन सकती। अनुमान से तब ही बनेगा जब उस प्रत्यक्ष के समय भी स्व और अर्थ का निर्णय मान लिया जाये। अगर प्रत्यक्ष के समय स्व और पदार्थ का निर्णय नहीं माना जाता तो स्मृतिज्ञान भी नहीं हो सकता। यदि कहो कि अभ्यास आदिक विशेषों के कारण वह सब स्मरणज्ञान हो जायेगा। तो भाई वह अभ्यास क्या है? स्व और अर्थ का निश्चय ही तो है। तब अपने आप यह सिद्ध हो गया कि स्व और अर्थ का निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है। यह बात प्रत्यक्ष में भी पायी जाती है और परोक्ष में भी याने प्रत्यक्षज्ञान भी स्व और अर्थ का निर्णय करने वाला है और परोक्षज्ञान भी स्व और अर्थ का निर्णय करने वाला है। अन्तर यह है कि। परोक्षज्ञान में तो अस्पष्ट प्रतीति है, किन्तु प्रत्यक्षज्ञान में स्पष्ट प्रतीति है।

निर्विकल्प अर्थ से उत्पन्न होने वाले ज्ञान की निर्विकल्पकता के मंतव्य की मीमांसा—यहाँ क्षणिकवादी कहते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान तो निर्विकल्प ही है। इसका कारण यह है कि जब प्रत्यक्ष ज्ञान का विषयभूत पदार्थ स्वयं निर्विकल्प है, पदार्थ का स्वरूप कल्पना से रहित है तो उस ही अर्थ के सम्बंध में प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ। तो जिस प्रकार अर्थ निर्विकल्प है उसी प्रकार उस पदार्थ से उत्पन्न होने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान भी निर्विकल्प है, जिस पदार्थ की उत्तर समय में होने वाली पर्याय पदार्थजन्य है। सो जैसा पदार्थ है उसके अनुरूप पर्याय है तो ऐसे ही पदार्थ से ही प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न हुआ है तो वह भी निर्विकल्प है। कार्य तो कारण के सदृश हुआ करता है। उसके समाधान में कहते हैं कि यह कथन तो विरुद्ध साधक है, याने यह कहा जा रहा है कि निर्विकल्प अर्थ के निमित्त से उत्पन्न हुआ है प्रत्यक्षज्ञान, सो यह हेतु सिद्धि के विरुद्ध है। देखो आत्मा में जड़ पदार्थ के निमित्त से सुख दुःख इच्छा चेतनरूप उत्पन्न हो जाते हैं। तो जड़ से जड़ ही तो होना चाहिए, पर लो जड़ से चेतन

बन गया तो कहाँ रही कार्य की कारणसदृशता?

दूसरी बात यह है कि घट-पट आदिक पदार्थों को सर्वथा निर्विकल्प नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जातिविशेष सम्बंध छोटे बड़े आदिक वास्तविक भेदरूप कल्पनाओं से वे पदार्थ तदात्मक हो रहे हैं। तो सविकल्प अर्थ रहा ना? तो लोग जैसे कहते थे कि निर्विकल्प अर्थ के सामर्थ्य से उत्पन्न ज्ञान निर्विकल्प है तो यहाँ यह भी कह सकते कि सविकल्प अर्थ के सामर्थ्य से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्षज्ञान सविकल्प है, और वह निर्दोष होकर स्पष्ट है। तो प्रत्यक्ष को निर्विकल्प सिद्ध करने के लिए जो शंकाकार ने हेतु दिया है कि निर्विकल्प अर्थ की सामर्थ्य से उत्पन्न होता है यह हेतु विरुद्ध है। अर्थ की सामर्थ्य से उत्पन्न होता है तो अर्थ सविकल्प है। तो सविकल्प प्रत्यक्ष बन जायेगा। वस्तुतः देखा जाये तो प्रत्यक्षज्ञान निर्मूल स्पष्ट है, पर है सविकल्प, क्योंकि उस स्पष्ट ज्ञान के स्पष्टपने का आरोप तो है, याने कल्पना तो चल ही रही है कि प्रत्यक्षज्ञान स्पष्ट है, कल्पनारहित कहाँ हुआ? जो स्पष्ट होगा वह विशेष से सहित है। ऐसा प्रतिभास में आ रहा तो वह निर्विकल्प होगा या सविकल्प। स्पष्ट ज्ञान तो सविकल्प है, स्व और अर्थ के निश्चयरूप है।

निर्विकल्प प्रत्यक्षज्ञान से सविकल्प निश्चायक ज्ञान की उत्पत्ति मानने वालों को निर्विकल्प अर्थ से सविकल्प ज्ञान की उत्पत्ति मानने में हिचक न लाने का शिक्षण—यहाँ निरंशक्षणिकवादी शंका करते हैं कि जो यह कहा था कि जाति द्रव्यादिक स्वरूप अर्थ से प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है सो यह कैसे सम्भव है, क्योंकि पदार्थ तो जाति शब्दयोजना आदिक सभी कल्पनाओं से रहित है तो अर्थ तो निर्विकल्प ही है, सविकल्प नहीं है। और निर्विकल्प अर्थ से उत्पन्न होने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान निर्विकल्प ही कहा जायेगा।

इस आशंका का समाधान यह है कि देखो बौद्ध जन ही तो यह मान रहे कि पदार्थ का ज्ञान निर्विकल्प प्रत्यक्ष तो हुआ, पर निर्विकल्प प्रत्यक्ष से उत्पन्न होता है सविकल्प ज्ञान तो देखो सही ज्ञान सविकल्प ज्ञान, सविकल्प ज्ञान, अनुमान ज्ञान निर्विकल्प प्रत्यक्ष से उत्पन्न हुआ ना? तो जैसे निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान से सविकल्प ज्ञान बन सकता है, ऐसे ही निर्विकल्प अर्थ से सविकल्प ज्ञान बन जायेगा। क्षणिकवादियों का सिद्धान्त यह है कि पदार्थ के क्षण में निर्विकल्प ज्ञान होता है, वहाँ पदार्थ का निर्णय नहीं हैं। उसके बाद पदार्थ का जो निर्णय होता है वह सविकल्प ज्ञान है। तो निर्विकल्प ज्ञान से ही तो सविकल्प ज्ञान बना, ऐसे ही निर्विकल्प अर्थ से सविकल्प ज्ञान बन जाये, उसमें क्या आपत्ति? निर्विकल्प प्रत्यक्ष से तो सविकल्प ज्ञान बन जाये और निर्विकल्प अर्थ से सविकल्प प्रत्यक्ष न बने, यह तो कोरे पक्षपात की ही बात है। इस सविकल्प ज्ञान में जो प्रत्यक्ष है वहाँ शब्दयोजना वाली प्रतीति की कल्पना नहीं बता रहे, किन्तु जाति गुण आदिक से सहित प्रतीति हो ही रही है। तो ऐसी सत्य कल्पना का वहाँ विरोध नहीं हो सकता, अतएव प्रत्यक्षज्ञान निर्विकल्प है, ऐसा एकान्त करना युक्त नहीं है।

कल्पना के लक्षण के भेद से प्रत्यक्षज्ञान में कथंचित् निर्विकल्पता व कथंचित् सविकल्पता की प्रसिद्धि—प्रत्यक्षज्ञान की जो कल्पना होती है वह निर्णयरूप कल्पना है। श्रुतज्ञान में जो कल्पना होती है वह तो संकेत और स्मरण के उपाय से होती है। और श्रुतज्ञान में इस शुद्ध पदार्थविषयक इष्ट अनिष्ट संकल्प रहता है, लेकिन ऐसी कल्पना हम प्रत्यक्षज्ञान में नहीं कह रहे, वह तो स्वार्थ निर्णयरूप कल्पना है जो अध्यक्ष में चलती है और

ऐसा विकल्प चले बिना ज्ञान बनता ही नहीं है। जब ज्ञान हो रहा है तो कुछ निर्णय करता हुआ ही तो होता है। जो निर्णय है सो विकल्प है। जितने भी प्रत्यक्षज्ञान होते हैं वे स्वयं ही निश्चयात्मक होते हैं। बौद्ध जन जो ऐसा कहते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान निश्चयात्मक नहीं होता, किन्तु शब्दादिक की अपेक्षा रखकर कल्पना बनती है तब निश्चयात्मक सविकल्प ज्ञान होता है। तो भला शब्दादिक की अपेक्षा रखने से निर्णय बनता है तो इसमें तो इतरेतराश्रय दोष हो गया, क्योंकि जब कुछ निर्णय बने तब तो शब्दादिक की योजना चले, और मानता है यह कि शब्द योजना चले तब निर्णय हो तो यह इतरेतराश्रय दोष हो गया। इससे निर्णयशून्य ज्ञान को प्रमाण न कहना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि यदि निर्णय अपने शब्दविशेष की अपेक्षा करता है तो जिस शब्दविशेष की अपेक्षा की उस शब्दविशेष का भी तो निर्णय होना चाहिए। उसका निर्णय करने के लिए अन्य शब्दविशेषों की अपेक्षा होगी। उसका भी निर्णय चाहिए तो इस तरह से अनवस्था दोष आयेगा। यदि कुछ दूर चलकर याने कुछ तो शब्दान्तर निर्णयान्तर मानते गए और कुछ के बाद यदि यह माना जाये कि चौथा, छठा वगैरा निर्णय अपने आप ही होता है वह अन्य शब्द की अपेक्षा नहीं रखता, तो भला फिर पहले था ही क्यों? यह मान लीजिए कि पदार्थ का निर्णय स्वतः हो जाता है, वह शब्दविशेष की अपेक्षा नहीं रखता। प्रत्यक्ष ज्ञान में ऐसा देखा ही जा रहा है कि पदार्थ के देखते जानते ही तुरन्त निर्णय हो जाता है। तो जब सभी निर्णय स्वतः होता है। तब यही निश्चय करना चाहिए कि चाहे मुख्य प्रत्यक्ष हो, चाहे एकदेश प्रत्यक्ष हो, जितने भी प्रत्यक्षज्ञान हैं वे कथंचित् निर्विकल्प हैं और कथंचित् सविकल्प हैं। निर्विकल्प तो यों हैं कि उनमें शब्दयोजना जाल नहीं चलता। और स्वविकल्प यों हैं कि उनमें स्व और अर्थ का निश्चय पड़ा हुआ है। यदि प्रत्यक्षज्ञान को सर्वथा निर्विकल्प मान लिया जाये तो स्व और अर्थ का निश्चय कैसे होगा? और यदि प्रत्यक्षज्ञान को सर्वथा सविकल्प मान लिया जाये तो उसमें फिर शब्द कल्पनायें उत्पन्न होनी चाहिए। तो इस प्रकार प्रत्यक्षज्ञान कथश्चित् सविकल्प है कथश्चित् निर्विकल्प है।

प्रत्यक्षज्ञान में कथंचित् सविकल्पता की वादी व प्रतिवादी दोनों के द्वारा अभीष्टता—प्रत्यक्ष ज्ञान में कथश्चित् सविकल्पना है, इस बात का क्षणिकवादी भी स्वीकार कर लेते हैं। उनका सिद्धान्त है कि नाम, जाति आदिक भेद व्यवहार रूप कल्पना से रहित है प्रत्यक्ष, किन्तु स्वकीय विकल्प से रहित हो, सो नहीं है। जैसे कि बताया है कि रूप वेदना विज्ञान संज्ञा संस्कार ये ५ विज्ञान धातुवें हैं और इसी कारण ये सब वितर्क और विचार सहित हैं। तो तो निर्विकल्प प्रत्यक्ष वितर्क और विचार सहित है, इसलिए तो सविकल्प है, किन्तु निरूपण आदिक विकल्प नहीं होते प्रत्यक्ष में अतएव निर्विकल्प हैं। सारांश यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में वितर्क और विचार रूप कल्पना मौजूद है। वितर्क का अर्थ है ज्ञान के द्वारा विषय का आलम्बन करना। कारण को जानना वितर्क है और विचार का अर्थ है कि वितर्क में जो विषय किया गया उसकी दृढ़ जानकारी करना सो प्रत्यक्ष में ये दोनों बात मौजूद हैं, अतएव प्रत्यक्ष को सर्वथा निर्विकल्प नहीं कहा जा सकता। हाँ प्रत्यक्षज्ञान में नाम आदिक की कल्पना या निरूपण नहीं है या उसमें स्मरण नहीं है, अतएव प्रत्यक्षज्ञान सविकल्प नहीं है। तो यों प्रत्यक्षज्ञान भी कथश्चित् निर्विकल्प हुआ, कथश्चित् सविकल्प हुआ। यदि बौद्ध जन ऐसा कहें कि योगियों का प्रत्यक्ष है, जो सर्व कल्पनाजाल से रहित है सो ऐसा कहने पर तो प्रत्यक्ष का लक्षण अव्याप्ति दोष से सहित हो गया।

सर्वथा कल्पनाजाल जहाँ नहीं है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। तो ऐसे योगिप्रत्यक्ष में तो घट गया, किन्तु इन्द्रियप्रत्यक्ष में यह लक्षण घटित नहीं होता।

यदि ऐसी बात कहें कि लौकिकी कल्पना से रहित होना सो प्रत्यक्ष है तो चलो ठीक है। लौकिकी कल्पना से लक्षण तो हो गया प्रत्यक्ष, पर शास्त्रीय कल्पना तो बराबर साथ में चल रही है। शास्त्रसम्बन्धी कल्पना क्या? स्व और अर्थ का निर्णय होना या अर्थाकार होना, अर्थविकल्प होना। तो शास्त्रीय कल्पना तो है, इस कारण से प्रत्यक्ष को, एकान्त को निर्विकल्प नहीं कहा जा सकता। यदि शास्त्रीय कल्पना भी न रहे प्रत्यक्ष में तब फिर बुद्ध के धर्म का उपदेश ही नहीं बन सका।

जैसे कि सर्वथा निर्विकल्प है जड़ पदार्थ झोपड़ी वगैरा, क्या उससे धर्म का उपदेश चलता है? आखिर ज्ञानवान आत्मा है और उसमें पदार्थ का निर्णय है तब ही तो उपदेश चल सकता है। तो प्रत्यक्ष ज्ञान को सर्वथा निर्विकल्प न कहना चाहिए। और फिर देखिये कल्पनाशून्य है प्रत्यक्ष, यह तो कल्पना करनी ही पड़ी। और भ्रान्तिरहित है प्रत्यक्ष, यह भी कल्पना करनी पड़ी। तो जब इन दो का निर्णय समाया हुआ है प्रत्यक्ष ज्ञान में तो यहाँ से समझ लो कि प्रत्यक्षज्ञान कथश्चित् सविकल्प हो गया, सो प्रत्यक्षज्ञान का कल्पनारहित अर्थ न करना, किन्तु व्यवधान के बिना स्पष्ट प्रतीति होने को प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं। यह लक्षण देखिये—प्रत्यक्ष अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान में गया और एकदेश प्रत्यक्ष, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में भी इस लक्षण की झलक हो जाती है।

मुख्यप्रत्यक्ष की अतीन्द्रियता का निर्णय—अब यहाँ वैशेषिक मतानुयायी कहते हैं कि कोई भी प्रत्यक्ष ऐसा नहीं है कि जो इन्द्रिय और मन की अपेक्षा न रखता हो। सभी प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय और मन से उत्पन्न हुए, इन्द्रिय और मन की अपेक्षा बिना कोई प्रत्यक्ष नहीं होता ऐसा कहने वाले वैशेषिक मतानुयायी जरा यह तो सोचें कि फिर ईश्वर के प्रत्यक्ष में यह लक्षण कैसे घटित होगा, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है, ईश्वर को ज्ञान समस्त पदार्थों को विषय करता है। उस ज्ञान में इन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं है। इन्द्रिय के द्वारा समस्त अर्थों का सम्बन्ध एक साथ किसी जीव में नहीं हो सकता है? यदि कहो कि उनका ज्ञान योगज है, धर्मविशेष से उनका ज्ञान बना है, इसलिए सम्पूर्ण अर्थ को जान लेता है, सो यह बात तो ठीक है, पर वह प्रत्यक्ष सन्त्रिकर्षजन्य तो न रहा। तो प्रत्यक्ष का लक्षण वह न रहा और फिर योगज, धर्मविशेष से समस्त पदार्थ का ज्ञान होता है, यह कहना ही सीधा मान लो, फिर बीच में इन्द्रिय का पदार्थों के साथ सन्त्रिकर्ष की बात क्यों कही जाती? सीधी स्पष्ट बात यह है कि ज्ञान में ज्ञान के लीन होने को समाधि कहते हैं और ऐसी समाधि से एक विशिष्ट अतिशय वाला ज्ञान उत्पन्न होता है, जिसका नाम एक ज्ञान है, उस ज्ञान के द्वारा एक साथ ही सम्पूर्ण पदार्थों का प्रत्यक्ष हो जाता है। आत्मा स्वयं ज्ञानमय है और उस ज्ञान में स्वयं ही जानने की सामर्थ्य है। निर्दोष निरावरण ज्ञान हो जाने से अब यह सर्वज्ञ का ज्ञान इन्द्रिय और मन की अपेक्षा नहीं रखता।

अब इस प्रसंग में सांख्यसिद्धान्तानुयायी कहते हैं कि पौद्गलिक इन्द्रियों की वृत्ति होने का ही नाम प्रत्यक्ष है। वह कैसे कि पहले तो इन्द्रिय अर्थ का सामान्य रूप से परिचय करती है। जैसे आँखों से देखा तो रूप है, रसना से जाना तो रस है, ऐसा एक सामान्यावलोकन होता है, फिर सामान्य अवलोकन किए गए पदार्थ का मन संकल्प करता है। हाँ वह पदार्थ ऐसा है, इसके पश्चात् संकल्प किए गए पदार्थ में अहंकार और अभिमान

करता है। मैं हूँ, मैं जानता हूँ, इस प्रकार का अभिमान हों और इस अभिमान से जो क्रिया जानी गई, मैं जानता हूँ, मैं पदार्थ को जानता हूँ। तो जिस पदार्थ को जानने का अभिमान हुआ उसका निर्णय बुद्धि करती है। तो यहाँ तक तो सब प्रकृति का ही कार्य है। फिर प्रकृति की इस क्रिया में जो अन्तिम क्रिया है याने बुद्धि से निर्णय किया गया। अब यहाँ चेतन क्या काम करता है कि बुद्धि से निर्णीत किए गए पदार्थ को यह आत्मा चेत लेता है और इस तरह से इन्द्रिय मन आदिक की वृत्ति ही प्रत्यक्ष सिद्ध बन गई।

ऐसा सांख्यसिद्धान्तानुयायियों का कथन संगत नहीं बनता, कारण कि इस तरह की वृत्ति एक ही बार में सम्पूर्ण पदार्थों का विषय नहीं कर सकती। इन्द्रियव्यापार से प्रत्यक्ष बने तो योगिप्रत्यक्ष सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रियवृत्तिरूप प्रत्यक्ष तो आंशिक ज्ञान है और सर्वज्ञ प्रत्यक्ष तो सर्वपदार्थविषयक ज्ञान है। तो इस प्रकार इन्द्रियवृत्तिरूप प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं होता, किन्तु जो ज्ञान सब व्यवधानों के बिना समस्त पदार्थों का साक्षात्कार करने वाला हो, स्पष्ट निर्णय रखता हो वह तो है मुख्य सम्पूर्ण प्रत्यक्ष और बिना इन्द्रिय के मन की सहायता बिना अपने विषय का स्पष्ट ज्ञान हो वह है अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान प्रत्यक्ष। और जो एकदेश स्पष्ट ज्ञान करता हो, वह है सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष। इस सूत्र में सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष को संगत नहीं किया गया है, क्योंकि वह तो वास्तव में परोक्षज्ञान ही है। यहाँ परोक्षज्ञान में अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान—ये तीन ज्ञान लिए गए हैं, ये अपने और पदार्थ का निश्चय करने वाले हैं और स्पष्ट अनुभव करते हैं। तो जो स्पष्ट ज्ञान हो वह प्रत्यक्ष है और इससे अन्य अर्थात् जो ज्ञान स्पष्ट नहीं, अस्पष्ट है वह परोक्ष है। इस तरह प्रत्यक्ष और परोक्ष—इन दो भेदों में समस्त ज्ञान आता है। अब प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों का संक्षिप्त विवेचन करके अब प्रथम परोक्ष ज्ञान के प्रकारों को कहते हैं।

सूत्र 13

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥

प्रकृत सूत्ररचना का प्रयोजन मतिज्ञानान्तर्गत बोधों का संग्रह—मति स्मृति संज्ञा अर्थात् प्रत्यभिज्ञान, चिन्ता अर्थात् तर्क तथा अनुमान—ये सब मतिज्ञान के अनर्थान्तर हैं अर्थात् मतिज्ञान के ही भेद प्रभेद हैं। यह सूत्र इसलिए कहना पड़ा कि मतिज्ञान के जितने भेद हैं उन भेदों का मतिज्ञान में ही अन्तर्भाव करना, नहीं तो ऐसे अनेक प्रमाण मानने पड़ेंगे। कोई कहे कि स्मरण भी तो प्रमाण है और वह इन ज्ञानों में आया नहीं, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान—इन ५ में आया नहीं। तो क्या वह एक छठा प्रमाण है? समाधान यह है कि स्मरण तो क्या, स्मरण जैसे अनेक ज्ञान हैं जो मतिज्ञान में ही अन्तर्भूत होते हैं। मत्यादिक जो ५ ज्ञान बताये गए उनमें स्मरण प्रत्यभिज्ञान तर्क आदिक प्रमाणों का संग्रह नहीं हो सकता, ऐसी कोई आशंका करे तो मानो उनको समझाने के लिए इस सूत्र की रचना की गई है। स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदिक इस सूत्र में बताये गए ज्ञान मतिज्ञान ही तो हैं, मतिज्ञान से भिन्न नहीं है, क्योंकि मतिज्ञान का लक्षण है कि वीर्यान्तराय कर्मों के क्षयोपशम से तथा मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह मतिज्ञान है। सो जैसे वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा स्वरूप मति नामक बोध उत्पन्न होता है इसी प्रकार वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदिक भी

उत्पन्न होते हैं। इस कारण स्मृति आदिक ज्ञानों को मतिज्ञानात्मक ही समझना चाहिए। इस सूत्र में जो प्रथम मति शब्द दिया है उसका अर्थ ५ ज्ञानों में बताया गया मतिज्ञान नहीं है, किन्तु अवग्रह, ईहा, अवाय, धारण भेद वाले सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष रूप मति का ग्रहण है। मतिज्ञान में जो मति नाम का बोध है उसका तो भाव है कि इन्द्रिय और मन के निमित्त से जो सीधा ज्ञान बनता है, वह है मति। स्मृति क्या है? इस मतिपूर्वक अर्थात् पहले काल में इस मति से कुछ परिचय किया था, उसका मन से स्मरण हो उसे स्मृतिज्ञान कहते हैं, और मतिज्ञान से जाने हुए का स्मरण हो रहा हो और वर्तमान में उस ही पदार्थ के बारे में मति चल रहा हो या उसके सदृश या प्रतियोगी पदार्थ का मति चल रहा हो उन दोनों ज्ञानों के जोड़रूप सदृशता प्रतियोगिता आदि रूप जो अर्थबोध है उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। अनुमान प्रमाण में काम आने वाले साध्य-साधन की व्याप्ति का ज्ञान करना तर्क है। साधन से साध्य का ज्ञान करना अनुमान है।

सूत्रोक्त 'इति' शब्द से बुद्धि मेधा प्रज्ञा आदि अनेक बोधों के मतिज्ञान में अन्तर्गत हो जाने का निर्देशन—सूत्र में 'इति' शब्द देने से सूत्रोक्त पाँच बोधों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक बोधों का संग्रह हो जाता है। जितने भी बोध वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं वे सब मतिज्ञान के ही अन्तर्गत होते हैं। जैसे बुद्धि, मेधा, प्रतिभा, प्रज्ञा, अभाव, सम्भव और उपमान आदि। बुद्धि नाम उसका है जो मति सूक्ष्म तत्त्वों का तत्काल विचार करने वाली होती है और वह इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होती है। जो मति बहुत दिनों तक धारणा रखने वाली होती है उसे मेधा कहते हैं। आगामी पदार्थों का विचार करने वाली बुद्धि का नाम प्रज्ञा है। जिस बुद्धि में नवीन-नवीन उन्मेष उठते रहे उस बुद्धि को प्रतिभा कहते हैं। जो परिचय किसी पदार्थ का अभाव बताये उस ज्ञान को अभाव प्रमाण कहते हैं। सम्भावनावश अर्थान्तर जानने वाला ज्ञान सम्भव कहलाता है। जैसे कहते हैं कि सम्भव है कि ऐसा हो और सादृश्य और सदृशता सहित को जानना उपमान बोध कहलाता है। ये सब मतिज्ञान से जुदे नहीं हैं, इस कारण इन सबका मतिज्ञान में अन्तर्भाव है और इस सूत्र में 'इति' शब्द देने से उन सबका ग्रहण होता है।

मति स्मृति आदि अंशों का मतिज्ञान में अन्तर्भाव—अब यहाँ कोई शङ्खा करता है कि जब मति स्मृति आदि के नाम न्यारे-न्यारे हैं और उनके लक्षण भी न्यारे-न्यारे हैं, विषय भी न्यारा-न्यारा है और इसके द्वारा जो कुछ भी प्रतिभास होता वह भी पृथक् है। जैसे स्मृति से स्मरण हुआ, प्रत्यभिज्ञान से एकता सदृशता आदिक जाना तो यों जब ये सब भिन्न-भिन्न हैं तो इनको मतिज्ञान से भिन्न क्यों कहते? इस शंका के समाधान में मूल बात यह ही सोचनी होगी कि यद्यपि मति आदिक का व्यवहार भिन्न-भिन्न है, लक्षण आदिक भी भिन्न-भिन्न है, तो भी इनका अभेद है, क्योंकि मतिस्मृति आदिक परिचयों में एक भेदरूप से मनन हो रहा है, ऐसी स्थिति में छोटे-छोटे अंश उपांश रूप परिचय ये मतिज्ञान से भिन्न रूप में नहीं रह सकते हैं। अनेक भेदों का संग्रह एक मूल तत्त्व में होता है, ऐसा तो अनेक दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। जैसे रसनाइन्द्रिय से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष, चक्षुइन्द्रिय से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष, योगियों का प्रत्यक्ष, इनका लक्षण भी जुदा है, नाम भी जुदा है फिर भी उसको प्रत्यक्ष में ही शामिल किया है, ऐसा नैयायिक आदिक दार्शनिकों के मत में अतिप्रसिद्ध है। अनुमान भी तो अनेक तरह के होते हैं। कोई अनुमान अन्वयी हेतु से बनता है, कोई व्यतिरेकी हेतु से, कोई पूर्ववत् हेतु से। यों अनेक हेतुवाँ से उत्पन्न होता है, इसलिए उन अनुमानों के स्वरूप में परस्पर भिन्नता है, फिर भी ये

जुदे-जुदे अनुमान प्रमाण नहीं कहे गए। एक अनुमान प्रमाण में ही ये सब अन्तर्गत हो जाते हैं। यदि थोड़े-थोड़े से भेदों को लेकर प्रमाण अलग-अलग माने जायें तब उनकी संख्या कोई नियत ही नहीं रह सकती। अनेक प्रमाण मानने होंगे।

जैसे कोई ऐसा समाधान करे कि नैयायिक आदिक ने जो अनेक प्रत्यक्ष माने हैं उन समस्त प्रत्यक्षों का प्रत्यक्षपना एक समान है, इसी प्रकार अनेक प्रकार के हेतुवों से उत्पन्न होने वाले अनुमानों का अनुमानपना एक तरह है। व्याकरण कोश आप्त वाक्य आदिक द्वारा जो शब्द-बोध बनता है उन सबमें आगमपना एक समान है, इसलिए इनमें विरोध नहीं आता। तो बस यही उत्तर यहाँ है कि मति, स्मृति, संज्ञा आदिक ज्ञानों में आया विषय जाति को न छोड़कर भिन्न-भिन्न हो रहा है तो भी मतिज्ञानपना सबमें है। इस तरह इस सूत्र में जो मति ज्ञान के अंश उपांशों का संग्रह किया गया है वह युक्तिसंगत है।

बुद्धि मेधा आदि उपांशों को मतिज्ञान में अन्तर्भाव—अब मतिज्ञान के अंश उपांशरूप जो मेधा आदिक ज्ञान बताये गए हैं उनका किस प्रकार मतिज्ञान में अन्तर्भाव होता है, उस विषय का थोड़ा परिचय करें। बुद्धि नाम है भले प्रकार से अर्थ को ग्रहण करने की शक्ति रखने वाली मति का। वह मतिज्ञान का ही तो भेद है याने मतिज्ञान के भेदरूप जो मति स्मृति आदिक कहे गए हैं उनमें से मति का प्रकार है बुद्धि। मेधा स्मरण का प्रकार है। किन्हीं-किन्हीं मनस्वी जीवों के शब्दों की स्मरण शक्ति विलक्षण होती है। वह ही मेधा कहलाती है। प्रज्ञा जिसमें कि तर्क वितर्क उठा करते हैं वह तर्क ज्ञान का ही प्रकार है, इसी प्रकार प्रतिभा ज्ञान भी तर्क ज्ञान का ही प्रकार है। सादृश्य और उपमान यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान का ही प्रकार है, क्योंकि सादृश्य प्रत्यभिज्ञान से किसी वस्तु का स्मरण करना, किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करना, उनमें सदृशता बतायी जाती है। यही उपमान का विषय है और सम्भव अर्थापत्ति अभाव आदिक ये सब अनुमान ज्ञान के भेद प्रभेद हैं, क्योंकि जब किसी बात की सम्भावना की जाती है तो चित्त में कोई कारण होते हैं, अर्थापत्ति तो अनुमान का रूप ही है। इसके होने पर इसका होना। और अभाव में जब उस वस्तु से शून्य भूमि आदिक का सद्वाव देखा जाता तो वह अनुमान रूप से अभेद ज्ञान बनता है। इस प्रकार ये सब ज्ञान मतिज्ञान के ही अनर्थान्तर हैं, बुद्धि मति से भिन्न नहीं है। जैसे अवग्रह ईहा आदिक मति मतिज्ञान का ही भेद है, ऐसे बुद्धि मेधा आदिक भी मतिज्ञान का ही भेद हैं। जैसे बुद्धि से जाना कि यह मुंड गौ है, कपिल गौ है, दुधार गौ है आदिक, तो जैसे ये गौ के प्रकार हैं, ऐसे ही बुद्धि मेधा आदि ये सब मतिज्ञान के प्रकार हैं। मेधा को स्मरण ज्ञान में सम्मिलित किया गया।

जैसे कोई ज्ञान करे कि बढ़िया चावल का प्रकार जो बासमती है, तो यह मेधा स्मरण ज्ञान का ही तो रूप है। प्रज्ञा व्याप्ति ज्ञान का रूप है, यह बात बहुत स्पष्ट है। प्रज्ञा में भूत भविष्य, अन्य देश की सूक्ष्म चीजें, इन सबका तर्क वितर्क संकल्प किया जाता है। तो वह व्याप्ति ज्ञानरूप तर्क का ही भेद है। इसी प्रकार से चिन्ता का प्रकार प्रतिभा भी है। प्रतिभा में नवीन-नवीन अर्थों के ज्ञान को उघाड़ने की बुद्धि होती है।

कोई शब्द कहा गया, वाक्य कहा गया, उससे नवीन-नवीन अर्थ का उद्घाटन करना उसका नाम प्रतिभा है। वह भी तर्क ज्ञान का प्रकार है। उपमान में लोग उपमान और उपमेय देखकर उनकी सदृशता बताते हैं। यह ही बात तो सादृश्य प्रत्यभिज्ञान में है। गाय के सदृश रोझ होता है, ऐसा सुनते आये हैं, और वही पुरुष

वन में जाये और वहाँ रोद्धा देखे तो वहाँ ज्ञान होता है कि इसके सदृश गाय है। इसकी सदृशता गाय में पायी जाती है। तो उपमान ज्ञान में यही तो कहा करते हैं कि रोद्धा में निरूपित व गाय में रहने वाली सदृशता उपमान ने जानी तो ये उपमायें, ये सब प्रत्यभिज्ञान के ही भेद हैं। इसी तरह सम्भव, अर्थापत्ति अभाव तथा किसी-किसी प्रकार के अन्य उपमान ये सब लिंगजन्य होते हैं, अतएव अनुमान के ही प्रभेद हैं। कोई चिह्न देखकर ही तो यह परिचय बना करता है और अनुमान में भी यही होता कि कोई चिह्न देखकर ज्ञान करना।

इस तरह मतिज्ञान में ये सभी भेद अभेद सम्मिलित हो जाते हैं। तो मति, स्मृति संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध इनका नाम बताकर जो इति शब्द दिया है उस इस शब्द से कम बुद्धि वाले को समझाने के लिए यह अर्थ करना कि मेधा प्रतिमा आदिक ये सब मतिज्ञान के अनर्थान्तर हैं और बुद्धिमान पुरुष जो कि स्वयं ही ऐसा समझ रहे हैं कि मेधा आदिक सब इन ज्ञानोंरूप हैं, उनके लिए 'इति' शब्द का अर्थ समाप्ति अर्थ में भी लाया जा सकता, अर्थात् ये सब मतिज्ञान के अनर्थान्तर हैं याने ये भिन्न अर्थ नहीं हैं। मतिज्ञान ही एक कहलाता है।

स्मरणज्ञान की अप्रमाणता की आशंका का निरसन—अब यहाँ कोई शङ्काकार कहता है कि स्मरण ज्ञान तो अप्रमाण कहलायेगा, क्योंकि स्मरण ज्ञान ने सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष से ग्रहण किये गए पदार्थ का ही तो ख्याल किया है तो यह ग्रहीतग्राही हो गया। ग्रहीतग्राही ज्ञान को प्रमाण नहीं कहा जा सकता। जो बात एक प्रमाण के द्वारा ग्रहण की गई बस जान लिया, अब उसे फिर दूसरे प्रमाण से जाना, उसकी आवश्यकता क्या? तो मतिज्ञान से याने सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष से जाने हुए पदार्थ का ही स्मरण ने ग्रहण किया। जैसे कि जब कुछ ख्याल आता है—अमुक गाँव, तो उस गाँव को पहले देखा था, उसका ख्याल किया जा रहा है तो ग्रहण को ही तो ग्रहण किया स्मरण ने, इस कारण से अप्रमाण कहलायेगा। लेकिन उनकी शङ्का यह यों ठीक नहीं है कि इस तरह अगर स्मरण ज्ञान अप्रमाण मान लिया जायेगा तो सभी प्रमाण और सभी प्रमेय में फिर कुछ ठहर ही नहीं सकते। इनसे रहित जगत हो जायेगा। कैसे? सो सुनो। स्मृति ज्ञान के अगर प्रमाणपना नहीं कायम करते, प्रमाणता उसकी मिटाना है तो प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नहीं रह सकता, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान में पहले देखे का स्मरण करे तथा इस समय देखे का जोड़ करे, यही तो प्रत्यभिज्ञान है। यह वह पुरुष है जिसको अमुक जगह देखा था, यह उसके समान है, यह उससे दूर है आदिक ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहलाते हैं। तो प्रत्यभिज्ञान तो तब ही बने जब स्मरण हुआ ना। स्मरण बिना प्रत्यभिज्ञान नहीं बनता और स्मरण को कह दिया अप्रमाण तो प्रत्यभिज्ञान भी अप्रमाण हो गया और जब प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण हो गया तो तर्क ज्ञान प्रमाण नहीं ठहर सकता, क्योंकि तर्क ज्ञान तो स्मरण प्रत्यभिज्ञान के आधार पर है, तर्क ज्ञान का रूपक है।

जैसे जहाँ-जहाँ धुवाँ है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धुवाँ भी नहीं होता, इस प्रकार की व्यासियां मिलाना, तो यह व्यासि तो तब ही बनती है जब स्मरण बने, प्रत्यभिज्ञान बने कि हमने इस-इस जगह धुवाँ देखा और वहाँ अग्नि पायी गयी। तो स्मरण प्रत्यभिज्ञान को अप्रमाण कह देने पर तर्क ज्ञान भी अप्रमाण बन जाता है और जब तर्क ज्ञान अप्रमाण हो गया तो अनुमान प्रमाण बन ही नहीं सकता। अनुमान प्रमाण बनता है साधन को देखकर साध्य का ज्ञान करने में। अब व्यासिज्ञान तो रहा नहीं, तो यह निर्णय कैसे बना कि यहाँ धुवाँ है, इसलिए अग्नि होनी चाहिए। तो यों व्यासि ज्ञान भी तर्क ज्ञान भी न बना, अनुमान भी

न बना और जब अनुमान प्रमाण न बने तो प्रत्यक्ष में प्रमाणता कैसे आयेगी ?

जैसे कोई प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता है और उससे कहा कि भाई तुम सिद्ध करो कि कैसे प्रमाण है ? तो वह कोई हेतु तो देगा । हेतु दिया कि अनुमान बना । साधन से साध्य का ज्ञान करना अनुमान कहलाता है । प्रत्यक्ष की प्रमाणता तो साध्य है और उसे सिद्ध करने के लिए कोई हेतु दिया जाता है तो साधन से साध्य का ज्ञान ही तो किया गया । यही अनुमान कहलाया और अनुमान को माना है अप्रमाण तो यों प्रत्यक्ष भी प्रमाण न बन सकेगा । तो लो देखो एक स्मरण ज्ञान को प्रमाण न मानने पर सारे ज्ञान अप्रमाण बन गए और जब कोई प्रमाण ही न रहा तो फिर प्रमेय किसे कहेंगे ? तो लो यों प्रमेयशून्यता भी हो गई । तो यों सर्वजगत का लोप हो गया एक स्मरण ज्ञान को प्रमाण न मानने पर ।

अच्छा कोई अगर यों कहे कि सब शून्य हो जाने दो, न प्रमाण रहे, न प्रमेय रहे, बस यह शून्य ही तत्त्व है तो शून्य ही तत्त्व है इसको सिद्ध करके तो बताओ जरा । सिद्ध करते के लिए कुछ भी वचन कहेंगे वही तो अनुमान आदिक बन गए । तो कुछ भी तत्त्व है यह भी सिद्ध नहीं किया जा सकता प्रमाण के बिना और स्मरण ज्ञान के बिना प्रमाण की व्यवस्था नहीं बनती, इस कारण शंकाकार ने जो शंका की थी कि स्मरणज्ञान गृहीतग्राही है इस कारण वह प्रमाण नहीं कहला सकता, यह, शंका उसकी युक्त नहीं है । गृहीतग्राही का अर्थ है कि जितना हो ग्रहण किया उतना ही जाने, लेकिन स्मरण ज्ञान ने मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ में कुछ विशेष विधि से जाना, मति से अर्थ का ग्रहण किया । अब उसके बारे में और प्रकार से जानकारी की तो यह सर्वथा गृहीतग्राही नहीं हुआ, इस कारण भी स्मृतिज्ञान को अप्रमाण नहीं कहा जा सकता ।

अर्थप्रवर्तक होने से स्मरण प्रत्यभिज्ञान तर्क व अनुमान में भी प्रामाण्य की पुष्टि—प्रसंग यह चल रहा था कि स्मरण ज्ञान को प्रमाण न मानने पर कोई भी ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता और जब कुछ प्रमाण ही न रहेगा तो प्रमेय भी कुछ न रहा । इस तरह प्रमाण और प्रमेय से शून्य जगत हो जायेगा । इस आपत्ति को सुनकर शंकाकार यदि यह कहे कि भाई जो अर्थ में प्रवृत्ति कराये उसको प्रमाण कहते हैं । तो प्रत्यक्ष तो अर्थ में प्रवृत्ति कराता है इसलिए प्रमाण है, पर स्मृति आदिक प्रमाण नहीं हैं, यदि ऐसा शंकाकार कहे तो यही कारण स्मरण आदिक में भी लगाना चाहिए । जैसे अर्थ में प्रवृत्ति कराने के कारण प्रत्यक्ष को प्रमाण माना या किसी भी ज्ञान को प्रमाण माना जायेगा तो स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदिक को भी प्रमाण मानना चाहिए । जैसे इन्द्रियजन्य ज्ञान से भोजन को जाना तो भोजन करने लगते हैं लोग तो अर्थ में प्रवृत्ति हुई प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा, इसी तरह यह भी तो देखें कि स्मरण से भी अर्थ में प्रवृत्ति होती है या नहीं ।

कोई पुरुष सीढ़ी से चढ़ गया दूसरी मंजिल पर, अब वह उतर रहा है उल्टा, तो नीचे जो पैर रख रहा है सीढ़ी के और नीचे डंडे पर तो स्मरण करके ही तो रख रहा है । उस उतरने वाले को यह ख्याल आता है कि इसके नीचे एक डंडा है, वहाँ पैर रखना है, अब और है वहाँ पैर रखना है । जहाँ डंडे समाप्त हो जाते हैं वहाँ निःशंक होकर पृथ्वी की तरह पैर रखता है । तो वहाँ अर्थ में प्रवृत्ति करने का कारण स्मरण ही तो हुआ । तो स्मरण ज्ञान को भी अर्थ में प्रवर्तक होने से प्रमाण मानना चाहिए । और भी देखिये— प्रत्यभिज्ञान द्वारा भी अर्थ में प्रवृत्ति होती है । जैसे रोगी पुरुष पहले किसी औषधि का सेवन करके निरोग हो गया तो अब उसका वही

रोगी अथवा दूसरा रोगी प्रत्यभिज्ञान करता है कि इसने वही दवा खायी थी जिससे वह चंगा हो गया । तो उस औषधि का प्रत्यभिज्ञान कर अब उरस औषधि में से थोड़ी औषधि लेकर प्रवृत्ति करता है, औषधि खाता है, निरोग हो जाता है, तो औषधि खाने में जो प्रवृत्ति की उसमें प्रत्यभिज्ञान ही तो कारण बना, इसी तरह तर्क ज्ञान से भी अर्थ में प्रवृत्ति देखी जाती है । तर्क ज्ञान से व्याप्ति ही तो जाना जाता है । धूम और अग्नि का साहचर्य जब ग्रहण किया याने जहाँ धूम है वहाँ अग्नि मिले तो उस विषय में अब यह तर्क उठायेगा कि जहाँ-जहाँ धूम होता वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, और फिर इसी तर्क के बल पर अर्थ में प्रवृत्ति भी करेगा याने अर्थ की अभिमुखता करके उसके भेद का ग्रहण कर अग्नि साध्य का अनुमान बनायेगा और अनुमान से फिर प्रवृत्ति करेगा । तो तर्क ज्ञान द्वारा भी प्रवृत्ति हुई, अनुमान ज्ञान द्वारा भी प्रवृत्ति हुई और शब्दकोष अथवा आगम के ज्ञान से भी प्रवृत्ति देखी जाती है ।

जैसे आप के वाक्य से किसी अर्थ का निर्णय किया, फिर उस निर्णय के अनुसार ज्ञान बनाता है, प्रवृत्ति करता है, आचरण करता है, तो यहाँ आगम ज्ञान द्वारा अर्थप्रवृत्ति हुई अथवा जैसे पुस्तकों में कोई रसायन बनाने की विधि लिखी है, उसे कोई पढ़ता है तो पढ़कर उसके अनुसार रसायन बनाने में प्रवृत्ति करता है । तो इस तरह कहीं साक्षात् कहीं परम्परया ये सब स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदिक द्वारा अर्थ में प्रवृत्ति होती है, इस कारण ये सभी ज्ञान प्रमाण हैं, इसमें किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है । इस कारण प्रत्यक्षज्ञान ही प्रवर्तक है और वही प्रमाण है, स्मरण आदिक प्रमाण नहीं हैं । यह सिद्धान्त गढ़ना उचित नहीं है ।

अनेक युक्तियों से स्मरणज्ञान के प्रामाण्य की पुष्टि—सभी ही जीव इन्द्रियजन्य ज्ञानों से पदार्थ का स्पष्ट निश्चय करते हैं और उसके अनुसार प्रवृत्ति करते हैं । ऐसा तो प्रायः सभी निरखते हैं, ऐसा कहने वाले ये क्षणिकवादी अपने आत्मा, शरीर आदिक में स्मृति से भी प्रवृत्ति कर रहे हैं, इस तथ्य की क्यों उपेक्षा कर रहे हैं बल्कि क्षणिकवादियों के यहाँ प्रत्यक्ष तो प्रवर्तक नहीं हो सकता, क्योंकि उन्होंने ऐसा माना है कि वह निर्विकल्प है और अर्थ के क्षण में हुआ है, उस ज्ञान के समय विकल्प ही नहीं, निर्णय ही नहीं, कोई प्रवृत्ति कैसे करेगा? तो स्मरण द्वारा प्रवृत्ति होती है, यह बात बौद्ध भी मान रहे हैं । तो स्मरण अर्थ में प्रवर्तक होने से प्रमाण है । अगर स्मरण अर्थप्रवर्तक न हो प्रमाण न हो तो कोई अपनी शङ्क का निर्णय ही नहीं कर सकता । किसी ने अपनी शङ्क अपनी आंखों नहीं देखी, लेकिन लोग दर्पण में अपनी शङ्क देखते हैं । उसका स्मरण कर किसी कलाकार द्वारा निर्मित अपने चित्र में जो प्रतिबिम्ब देखा उससे अपना स्मरण कर लेता है।

बचपन की अवस्थाओं का या शरीर के अनेक भागों का स्मरण कर लोग प्रवृत्ति किया ही करते हैं । लेन-देन व्यवहार सम्बंध ये सभी स्मरणपूर्वक हो ही रहे हैं । तो स्मरण पदार्थों में प्रवृत्ति कराता है, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है । अगर स्मृति को प्रमाण नहीं मानते ये क्षणिकवादी लोग तो फिर भला उनको अपने चित्त आदिक में स्मृति से प्रवृत्ति किस तरह हो सकेगी? तो स्मरण गृहीत अर्थ को विषय करता है, ऐसा हेतु देकर अप्रमाण कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यदि स्मरण को गृहीतग्राही होने से प्रमाण न मानोगे तब फिर ये क्षणिकवादी यह बतायें कि धारावाही इन्द्रिय ज्ञान का प्रमाणपना कैसे हो सकेगा? याने इन्द्रियजन्य ज्ञान से लगातार पदार्थों का निश्चय करते रहते हैं । वह प्रमाण कैसे हो जायेगा?

तो इसका समाधान क्षणिकवादी यह देते हैं कि विशिष्ट उपयोग न होने पर धारावाही ज्ञान को भी प्रमाणपना

नहीं माना गया। यदि ऐसा वे कहें तो यही उत्तर यहाँ है। याने गृहीत पदार्थों के विषय में कुछ विशेष बात जाने तब ही वह प्रमाण होता है। जितना गृहीत हुआ उतना ही ग्रहण होवे उसे अप्रमाण कह लीजिए, पर मति से जो जाना गया पहले, आज उससे कुछ विशिष्ट बात समझी जा रही है, विधि भी अलग है, समय भी अलग है, विचार भी अलग हैं, इस कारण स्मृतिज्ञान प्रमाण है। इस प्रकार किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है।

स्मृतिमूलक अभिलाषा आदि के अप्रमाण्य की तरह प्रत्यक्षमूलक स्मृति में भी अप्रामाण्य की आशंका का शंकाकार द्वारा उद्घाटन—अब यहाँ स्मरणज्ञान को प्रमाण स्वीकार न करने वाले दार्शनिक ऐसी शंका कर सकते हैं कि प्रवृत्ति स्मृति से नहीं होती, किन्तु अभिलाषा, पुरुषार्थ, क्रिया, इनसे जो व्यवहार उत्पन्न होता है वह व्यवहार प्रवृत्ति करता है। यद्यपि अभिलाषा आदिक का कारण स्मरण है, ख्याल आया स्मरण है तब अभिलाषा आदिक बनती है। जैसे खाये हुए मिष्ठ व्यञ्जन का स्मरण होता है तो इसकी इच्छा जगती है, फिर उसमें लोग प्रवृत्ति करते हैं। तो यद्यपि अभिलाषा आदिक स्मरण के आधार पर हुए हैं, स्मृतिमूलक हैं और स्मृतिमूलक अभिलाषा आदिक से व्यवहार उत्पन्न होता है और वह व्यवहार प्रवृत्ति करता है। ऐसा होने पर भी स्मरण प्रमाण नहीं है और अभिलाषा, पुरुषार्थ क्रिया ये तो इस कारण प्रमाण नहीं है कि ये ज्ञानस्वरूप नहीं हैं। जो ज्ञानस्वरूप हो, जड़ न हो वही तो प्रमाण कहा जाता है, ऐसा तो जैन भी मानते हैं कि जड़ प्रमाण नहीं होता। तो अभिलाषा क्रिया आदिक से व्यवहार बना, उस व्यवहार से प्रवृत्ति बनी और प्रवृत्ति का मूल हुआ अभिलाषा, अभिलाषा का मूल हुआ स्मृति, तब भी स्मृति प्रमाण नहीं है। तो जैसे अभिलाषा आदिक प्रमाण नहीं है क्योंकि वह स्मृतिमूलक है, इसी प्रकार स्मरण भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह प्रत्यक्षमूलक है। भले ही स्मरण में प्रवृत्ति हो या अभिलाषा आदिक में प्रवृत्ति हो, किन्तु ये सभी प्रमाण नहीं हो सकते, क्योंकि ये सब गृहीतग्राही ज्ञान हैं या ज्ञानजन्य व्यवहार हैं। तो न गृहीतग्राही ज्ञान प्रमाण होता और न ज्ञानजन्य व्यवहार प्रमाण होता।

प्रत्यक्षमूलकता के कारण स्मरण को अप्रमाण मानने पर प्रत्यक्षमूलकता के ही कारण अनुमान का भी अप्रमाण मानने का प्रसंग बताते हुए उक्त आशंका का समाधान—उक्त शंका के समाधान में इतना ही कहना पर्याप्त है कि जो शंकाकार बड़ी हठ आरोप के साथ यह बात कह रहा है कि स्मृतिमूलक अभिलाषा है तो अभिलाषा प्रमाण नहीं, ऐसे ही प्रत्यक्षमूलक स्मरण है तो स्मरण भी प्रमाण नहीं। तो ऐसा कहने वाले ये क्षणिकवादी अनुमान को भी पृथक् प्रमाण कैसे सिद्ध कर सकते हैं, क्योंकि अनुमान का भी मूल कारण प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष हुए बिना अनुमान तो बनता नहीं। पहले प्रत्यक्ष किया था, उस विषय का ही अनुमान बन पाता है तो प्रत्यक्षमूलक स्मृति होने से स्मरण प्रमाण नहीं है तो प्रत्यक्षमूलक अनुमान होने से अनुमान भी प्रमाण न रहेगा, क्योंकि अनुमान बनता है हेतु को देखकर पक्ष में साध्य की सिद्धि करने में, तो हेतु का प्रत्यक्ष होता है, तत्पूर्वक अनुमान बनता है तो फिर अनुमान भी प्रमाण न रहा तब चार्वाक की तरह केवल एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण रह जायेगा तो यह युक्ति देना कि प्रत्यक्षमूलक स्मरण है, इस कारण स्मरणज्ञान अप्रमाण है, यह युक्ति युक्त नहीं है। फिर तो प्रत्यक्षमूलक अनुमान है तो वह भी अप्रमाण हो जायेगा। कोई भी अनुमान संसार में ऐसा नहीं है जो किसी भी अंश में किसी भी प्रकार का प्रत्यक्षज्ञान न हुआ हो और अनुमान बन जाये।

अनुमानपूर्वक होने वाले अनुमानों में भी प्रत्यक्ष मूलकता की सिद्धि होने से प्रत्यक्षमूलक अनुमान के प्रामाण्य की तरह प्रत्यक्ष मूलक स्मरण में भी प्रामाण्य की सिद्धि—यदि शङ्काकार यों कहे कि प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान तो

हुआ, लेकिन उस अनुमान के बाद जो अनुमान बनता है वह तो अनुमानपूर्वक अनुमान हुआ, प्रत्यक्षपूर्वक तो नहीं हुआ। इस कारण अनुमान प्रमाण बन जायेगा। वहाँ किसी प्रमाण से गृहीत पदार्थ का ज्ञान नहीं करा रहे। भले ही प्रथम हुए अनुमान में यह दोष आयेगा कि वह तो प्रत्यक्षमूलक हुआ, लेकिन अनुमान के बाद जो और अनुमान होता है, जो अनुमानपूर्वक हुए हैं वह ज्ञान तो प्रमाण हो जायेगा और होता भी सर्व अनुमानों में इसी तरह, जैसे धुवां का प्रत्यक्ष किया उससे अग्नि का अनुमान बना, फिर उस अनुमान से उस स्थान में गर्मी का अनुमान बना तो अनुमानपूर्वक भी तो अनुमान होता है। सूर्य में गमनशक्ति है, यह किस प्रमाण से लोग सिद्ध करेंगे? सूर्य की गति से। तो सूर्य की गति से सूर्य में गमनशक्ति का अनुमान किया गया और सूर्य में गति है, सूर्य गमन करता है—यह किस ज्ञान से कोई जानेगा? प्रत्यक्ष में तो गमन नहीं दिखता। वह तो इस अनुमान से ही जाना जायेगा कि एक देश से, अन्य देश में सूर्य पहुंच गया तो देश से देशान्तर गमन करने से तो सूर्य की गति का अनुमान किया और सूर्य की गति का अनुमान के द्वारा सूर्य में अतीन्द्रिय गमन शक्ति का अनुमान किया तो देखो यहाँ अनुमानपूर्वक ही अनुमान हुआ।

लोक में भी चार पांच अनुमान करके आगे-आगे अनुमान से अनुमान बनाकर वस्तु का निर्णय किया करते हैं, तो सभी अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक नहीं हुए, इस कारण यह दोष देना कि प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान होता है, इसलिए अप्रमाण है। जैसे कि प्रत्यक्षपूर्वक स्मरण अप्रमाण माना गया है यह दोष नहीं आता, ऐसे क्षणिकवादी अपने दोष का परिहार कर रहे हैं। अब इस सम्बन्ध में वास्तविकता देखो किस कोई भी अनुमान हुए हों और वे किसी अनुमानपूर्वक हुए हों, पर मूल आधार उन सबमें प्रत्यक्ष ही पड़ता है। चाहे परम्परया पड़ा हो, मगर प्रत्यक्ष हुए बिना अनुमान बन न पायेगा। अनेक अनुमान बनाकर दूर जाकर भी उस अनुमान को यदि प्रत्यक्षपूर्वक न माना जायेगा तो अनवस्था दोष आयेगा। तो आखिर अनेक अनुमान मानने पर भी प्रत्यक्ष को कारणपना मानना ही पड़ा। तो जब अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक हुए तो वह भी अप्रमाण बन बैठेगा।

जैसे कि ये ही दार्शनिक कह रहे हैं कि स्मरण प्रत्यक्षज्ञानपूर्वक होता है इस कारण अप्रमाण है तो ज्ञानपूर्वक ज्ञान होता, इस कारण से अप्रमाणता नहीं आती। सर्वथा गृहीतग्राही भी कोई ज्ञान तब ही होता है जब ज्ञान पहले जितना ग्रहण किए गए अंश तक को ही जानता हो। जो उसमें कुछ विशेषता किसी भी प्रकार से रखकर जाने तो वह ज्ञान अप्रमाण नहीं कहला सकता।

प्रत्यक्ष व अनुमान ज्ञान की तरह स्वार्थप्रकाशक होने से स्मरण आदि ज्ञानों में भी प्रामाण्य की सिद्धि—अब यहाँ शङ्काकार यदि यह कहे कि अनुमान प्रमाण तो इस कारण से है कि वह अपने अर्थ का प्रकाश है, अनुमान प्रमाण का जो विषय है उस विषय का परिचय कराता है तो अर्थ प्रकाशक होने से अनुमान प्रमाण है। तो इस प्रकार स्व और अर्थ का प्रकाशकपना होने से अनुमान को प्रमाण कहेंगे तो ऐसा स्वपरप्रकाशक होने से स्मृति भी प्रमाण मान लिया जाना चाहिए। हाँ उस स्मरण ज्ञान से भिन्न जो अभिलाषा, पुरुषार्थ रागद्वेष विरोध आदिक जो कुछ भी बाह्य तत्त्व बनते हैं वे प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि वे चेतन नहीं और स्व अर्थ के प्रकाशक भी नहीं हैं। जो स्व अर्थ का प्रकाशक नहीं होता वह ज्ञान प्रमाण नहीं माना गया। प्रवर्तकपने की बात यह है कि अपने और अर्थ के प्रकाश करने का ही नाम प्रवर्तकपना है। कहीं उस पदार्थ के प्रति गमन करने का नाम प्रवर्तकपना नहीं, किन्तु पदार्थ जानने में आ गया बस यही प्रवर्तकपना कहलाया। प्रत्यक्ष से, निमित से ज्योतिष आदिक

से भूत के भविष्य के अन्य देशों के पदार्थों का ज्ञान होता है, उस ज्ञान के समय कहीं भी उन पदार्थों को पकड़ने के लिए तो नहीं जाता। तो गमन करने का नाम या क्रिया करने का नाम प्रवृत्ति नहीं, किन्तु जानने का नाम प्रवृत्ति है, सो वास्तविकता तो यह है कि किसी भी तत्त्व का ज्ञान हो जाना ही महान कार्य है।

जैसे कि लोकव्यवहार में धन चाहने वालों को धन दिख जाये, यहीं तो एक बड़ा काम है, अब उसे ग्रहण करना तो सुलभ बात है। तो गुरुतर कार्य यहीं है कि पदार्थ का यथार्थ बोध हो जाये तो स्व-परपदार्थ का यथार्थ बोध हो जाने का ही नाम प्रवर्तकपना है। सो यह बार जैसे अनुमान में है वैसे ही स्मरण आदिक ज्ञानों में भी है। तो अनुमान की तरह स्मरण आदिक भी प्रमाण हो जाते हैं। जब किसी चीज का स्मरण करते हैं तो वहाँ भी तो पदार्थ का ज्ञान होता है। हाँ अभिलाषा, राग, कषाय ये प्रवृत्तियां पदार्थ का ज्ञान नहीं कराती। यह तो मोहनीय कर्मों के उदय होने पर आत्मा का विभावरूप परिणमन है। यह ज्ञानस्वरूप नहीं, चैतन्यस्वरूप नहीं, किन्तु पदार्थ का ज्ञान हो जाना यह प्रमाण है। सो यह बात जैसे प्रत्यक्ष में होती, अनुमान में होती, ऐसे ही स्मरण आदिक ज्ञानों में भी है। अतएव ये सभी ज्ञान प्रमाणभूत हैं, अप्रमाण नहीं।

समारोपव्यवच्छेदक होने से स्मरणज्ञान की स्वतंत्र प्रमाणरूपता—यहाँ क्षणिकवादी कहते हैं कि अनुमान तो अप्रमाण इस कारण नहीं है कि वहाँ समारोप का व्यवच्छेद है अर्थात् संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय—इन तीनों दोषों का वहाँ निराकरण है। जहाँ संशय, विपर्यय अनध्यवसाय का विनाश हो वह ज्ञान प्रमाण कहलाता है। अनुमान ज्ञान में ये तीनों ही दोष नहीं हैं, इस कारण प्रमाण है, अतः स्मृति की तुलना करके अनुमान को अप्रमाण कह देना ठीक नहीं है। इसके उत्तर में समाधान यह है कि यही बात तो स्मरण ज्ञान में है। स्मरण ज्ञान में भी संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय का निराकरण है। अतः जैसे अनुमान ज्ञान प्रमाण है इसी भांति स्मरण भी प्रमाण है। अब यहाँ शंकाकार कहता है कि स्मृति को हम प्रमाण तो मानते हैं, मगर अनुमान रूप से प्रमाण मानते हैं याने स्मृति भी अनुमान में अन्तर्गत है। वह अनुमान से जुदा कोई तीसरा प्रमाण नहीं है।

इसके समाधान में आचार्य बतलाते हैं कि स्मृतिज्ञान को अनुमान प्रमाण नहीं बता सकते, क्योंकि अनुमान में तो व्याप्ति वाले हेतु का काम है याने साधन से साध्य का ज्ञान करना अनुमान है, और साधन वही कहलाता है जिसमें व्याप्ति हो। तो व्याप्ति सहित हेतु का ज्ञान तो नहीं है स्मरण में और फिर भी स्मरणज्ञान देखा जाता है। और उस स्मरण से अर्थ में प्रवृत्ति, होती हैं, इस कारण स्मरण ज्ञान अनुमान प्रमाण नहीं है, किन्तु उससे निराला ही है। यदि ऐसा न मानोगे याने व्याप्ति के स्मरण मात्र को यदि अनुमान का रूप दे दोगे तो उस अनुमान में भी अन्य व्याप्ति के स्मरण की आवश्यकता होगी। और व्याप्ति स्मरण, वह फिर तीसरा अनुमान बनेगा और चूंकि वह अनुमान तीसरा बन गया तो उसमें भी व्याप्ति स्मरण की आवश्यकता है। इस तरह तो अनुमान प्रमाण मानते जाने की और व्याप्ति, स्मरण करते जाने की अनवस्था होती चली जायेगी। तब तो किसी भी अनुमान की सिद्धि न हो सकेगी। इससे यह मानना चाहिए कि स्मरण ज्ञान जुदा है और अनुमान प्रमाण जुदा है। अविनाभाव सम्बन्ध की स्मृति होती है सो वह स्मरण है। उसे अनुमान नहीं कह सकते। अगर इस ही को अनुमान कह देंगे तो अनुमान में तो व्याप्ति अवश्य होती है। व्याप्तिसहित हेतु के बिना अनुमान तो बनता ही नहीं, तब फिर उसके लिए दूसरा अनुमान चाहिए। तो यों अनुमान से अनुमान की उत्पत्ति मानते चले जाने में कहीं दिमाग स्थिर नहीं रह सकता।

स्मरणज्ञान में चेतकता होने से प्रमाणत्व की सिद्धि—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि साधन और साध्य के सम्बंध का ही नाम तो अविनाभाव है। जैसे अग्नि न हो तो धुवां नहीं हो सकता, इस कारण अग्नि का धूम का अग्नि के साथ एक अविनाभाव सम्बंध है। तो ऐसा धूम का जो अविनाभाव है, उस सम्बंध की जो स्मृति है वह तो अप्रमाण ही है और अप्रमाण ज्ञान से अनुमान प्रमाण की उत्पत्ति हो सकती है। ज्ञान से ज्ञान की उत्पत्ति हम नहीं कहते, क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति हो तो वहाँ गृहीतग्राहीपना आदिक अनेक दोष आयेंगे, पर अप्रमाण ज्ञान से, स्मरणज्ञान से अनुमान प्रमाण की उत्पत्ति सम्भव है। जैसे कि जड़ इन्द्रिय से चेतन प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होती है। पहले सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति तो मिथ्याज्ञान से हुई है, ऐसा मानना ही पड़ता है ना। तो ऐसे ही अप्रमाण स्मरण से प्रमाण अनुमान की उत्पत्ति हो जायेगी। तो व्यासि के ज्ञान को अप्रमाण माना गया है, और यों व्यासि के स्मरण को भी हम अप्रमाण मानते हैं और अप्रमाण से अनुमान की उत्पत्ति हुई तो उसमें कोई दोष न आयेगा—ऐसा शंकाकार के द्वारा कहा जाने पर अब समाधान देते हैं।

शंकाकार यह कह रहा है कि साध्य और साधन का जो अविनाभाव सम्बंध है उसका स्मरण तो अचेतन है, अप्रमाण है, सो प्रथम तो यह बात युक्त नहीं होती, क्योंकि स्मरण से पदार्थ का निर्णय देखा जाता है और अप्रमाण ज्ञान से पदार्थ का निर्णय सम्भव नहीं। तो जब स्मरणज्ञान से पदार्थ का निर्णय होता है तो स्मरणज्ञान अचेतन कैसे हो सकता है? कोई ऐसी ही हठ करे कि अप्रमाणज्ञान से भी पदार्थ का निर्णय होने लगे तो ऐसी हठ वाले फिर इस बाड़ को न रोक सकेंगे, सारे निर्णय अप्रमाणज्ञान से होने लगेंगे, फिर प्रमाणज्ञान मानने की आवश्यकता ही क्या? सब प्रमाण व्यर्थ हो जायेंगे। अप्रमाण से प्रमेय की सिद्धि मान ली जाये तो फिर प्रमाणज्ञान का तो नाम ही न रहना चाहिए, रहेगा ही नहीं। ऐसा होना न्याय तो नहीं है ना, कि कुछ-कुछ पदार्थों की सिद्धि अप्रमाणज्ञान से हो और कुछ पदार्थों की सिद्धि अप्रमाणज्ञान से न हो। यह तो ऐसा हुआ जैसे कोई अधबूढ़ी औरत अपने को युवती समझे इस तरह की रीति हुई एक। इससे सही बात मान लेना चाहिए कि जैसे अनुमान ज्ञानप्रमाण है उसी प्रकार स्मरण ज्ञान भी प्रमाण होता है।

प्रत्यक्ष व अनुमान की भाँति अर्थवान होने से स्मरणज्ञान में प्रामाण्य की अप्रतिष्ठिता—अब यहाँ क्षणिकवादी कहते हैं कि स्मरण से अतीत अर्थ का ज्ञान होता है। वह था इस प्रकार से ज्ञान होता है तो स्मरणज्ञान ने जिस पदार्थ के बारे में जाना वह पदार्थ तो है ही नहीं, वह तो अतीत हो गया। स्मरण तो अतीत का हुआ करता है। तो जब पदार्थ ही नहीं है तो इसके मायने यह हुआ कि स्मरणज्ञान अर्थवान नहीं है, उसका विषयभूत कोई पदार्थ नहीं है और जो अर्थवान नहीं है वह अप्रमाण ज्ञान है। इसके समाधान में आचार्य बताते हैं कि ऐसा मानने पर कि जो अतीत अर्थ का विषय करे वह ज्ञान अर्थज्ञान नहीं, तो प्रत्यक्ष भी अर्थवान न ठहरेगा। क्षणिकवादी जन ऐसा सिद्धान्त बनाते हैं कि प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षण में नया-नया होता है और वह एक समय के लिए ही ठहरता है, दूसरे समय नहीं रहता और साथ ही यह भी मानते हैं कि ज्ञान की याने प्रमाण की उत्पत्ति पदार्थ से होती है, तो इसके मायने यह हुआ कि पदार्थ तो है कारण और ज्ञान है कार्य। तो अब क्षणिकवाद सिद्धान्त में पदार्थ और ज्ञान में कार्यकारणभाव हो गया, और साथ ही यह भी नीति है कि कारणभूत पदार्थ पहले समय में होना ही चाहिए। उत्तर समय में कार्य होता है। तो यहाँ जो प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ वह पदार्थ की सत्ता के समय तो न हो सका, क्योंकि कारण साकारभूत स्वपदार्थ के स्वरूपलाभ के बाद होते हैं। जब

प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न हुआ तो उसका कारण जो अर्थ है पदार्थ वस्तु स्वलक्षण वह नष्ट हो गया । तो अर्थ के गुजर जाने पर क्षणिकवादियों के यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण हुआ, सो जो दोष स्मरणज्ञान में दिया जा रहा है कि देखो पदार्थ तो है नहीं और उसके बारे में स्मरण चल रहा है, अतएव स्मरणज्ञान अर्थवान नहीं है और अर्थवान न होने से प्रमाण नहीं है । तो यही दोष प्रत्यक्षज्ञान में आयेगा ।

देखो क्षणिकवादियों का प्रत्यक्ष जब हुआ तब अर्थ न रहा तो अर्थ के गुजर जाने पर प्रत्यक्षज्ञान हुआ, अतः प्रत्यक्ष अर्थवान न ठहरेगा और जो अर्थवान नहीं वह अप्रमाण है । तो स्मरण के बारे में कुछ भी दोष ढूँढ़ा जायेगा तो वही दोष प्रत्यक्षज्ञान में लगेगा और वही दोष अनुमान प्रमाण में भी लगेगा । जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण पदार्थ के नष्ट होने पर ही होता है ऐसे ही अनुमान ज्ञान भी पदार्थ के अतीत होने पर होता है, तो अनुमान भी अर्थवान न रहेगा । अतः अर्थवान नहीं है स्मरण, इस कारण अप्रमाण है, यह घोषित करना संगत नहीं है । अर्थवान जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण है अनुमान प्रमाण है वैसे ही स्मरण ज्ञान भी है । कोई भी ज्ञान निर्विषय नहीं होता । ज्ञान है तो उसका विषय होना चाहिए । जो निर्विषय हो सो प्रमाण नहीं, तब मति स्मृति आदिक सूत्र में जो मतिज्ञान के अर्थान्तर में स्मृति शब्द दिया है वह युक्तिसंगत है ।

स्मरणज्ञान भी प्रमाण है, यह बचे से लेकर वृद्ध तक सभी अपने अनुभव से स्वीकार कर सकते हैं । तो ज्ञान का विषयभूत सत् पदार्थ होना चाहिए, वह चाहे अतीत में हुआ हो, चाहे भविष्य में हो, चाहे वर्तमान में हो, किसी भी काम, सत् हो वह ज्ञान का विषय होता है । स्मरणज्ञान का विषय है भूत की पर्याय । तो वह अर्थ इस समय में नहीं है तो भी उसको विषय करके ज्ञान बन जाता है, ऐसा ही तो क्षणिकवादियों के प्रत्यक्ष में है, अनुमान में है । पदार्थ नहीं है और उसका ज्ञान हो रहा है ।

साकारता होने से स्मरण ज्ञान में भी प्रामाण्य की प्रसिद्धि—अब शंकाकार यदि यह कहे कि प्रत्यक्ष में तो अर्थ का प्रतिबिम्ब पड़ जाता है, अतएव वह प्रमाण है और वह अर्थ का बोध कराने वाला है, अर्थवान भी है । जैसे आँख से जो देखा उसका आकार ज्ञान में आ गया तो आकार जब ज्ञान में आ गया तो अर्थवान हो गया । इसलिए कोई यह दोष न दे सकेगा कि प्रत्यक्ष प्रमाण अर्थवान नहीं है । इसके उत्तर में कहते हैं कि बात तो सही है । प्रत्यक्ष अर्थवान है, उसका विषय पदार्थ है, उस पदार्थ का आकार भी है ज्ञान में, लेकिन यही बात स्मरणज्ञान में भी है, स्मरणज्ञान में भी पदार्थ का आकार है । जिसका भी स्मरण किया उसका फोटो तो है स्मरण में, उसका विकल्प तो है स्मरण में । तो जैसे प्रत्यक्ष साकार है, ऐसे ही स्मरण भी साकार है । ज्ञानभाव ऐसा सरल भाव है कि वह अपनी आदत से न हट सकेगा । सभी ज्ञान सविकल्प (साकार) होते हैं । प्रत्यक्ष साकार (सविकल्प) है तो स्मरण भी साकार (सविकल्प) है, अतः प्रत्यक्ष की भाँति स्मरण भी सविकल्प है, अतएव प्रत्यक्ष की भाँति स्मरण भी अर्थवान है और प्रमाणभूत है ।

अविशद ज्ञानों में भी प्रामाण्य की प्रसिद्धि—यहाँ शंकाकार कहता है कि स्मरणज्ञान में अस्पष्टता रहती है याने जिसका ख्याल किया जाता है उसका स्पष्ट प्रतिभास नहीं होता । जैसे कि आँखों देखी हुई चीज का स्पष्ट प्रतिभास है, वैसा स्मरण में नहीं होता, इस कारण से स्मरणज्ञान अप्रमाण है । शंकाकार की शंका का यही समाधान है कि स्पष्टता होने के कारण यदि स्मरणज्ञान को अप्रमाण कहा जायेगा तो अनुमान भी अप्रमाण हो जायेगा । साधन को देखकर साध्य का जो ज्ञान किया जाता है वह स्पष्ट ज्ञान तो नहीं है । जैसे पर्वतपर धूम

देखा और धुंवे को देखकर अग्नि का अनुमान किया तो क्या उस अनुमान में अग्नि का स्पष्ट ज्ञान है? स्पष्ट ज्ञान तो नहीं है। जैसे चक्षु से देखकर अग्नि का स्पष्ट ज्ञान होता है, ऐसा तो अनुमान में है ही नहीं। तो अस्पष्ट ज्ञान होने के कारण यदि स्मरणज्ञान को अप्रमाण कह दिया जाये तो अनुमान भी अप्रमाण हो जायेगा।

प्राप्यार्थवत्ता होने से भी स्मरण प्रामाण्य की सिद्धि—यदि शंकाकार यह कहे कि अनुमान में तो प्राप्य अर्थ है याने घूम को देखकर अग्नि का अनुमान किया तो वहाँ प्राप्त करने योग्य वस्तु मौजूद है। इस कारण से अनुमान को अर्थवान कहा जायेगा और अर्थवान होने से अनुमान प्रमाण कहा जायेगा। भले ही अनुमान ज्ञान में अस्पष्टता है क्योंकि अनुमान सामान्य को विषय करता है। तो अस्पष्ट होने पर भी चूंकि अनुमान में प्राप्य अर्थ है, इस कारण अनुमान प्रमाण हैं, तो इसका भी उत्तर यही है कि स्मरण का भी तो प्राप्य अर्थ है, इस कारण स्मृति भी प्रमाणरूप है न जो कोई मुख में कौर देता है, भोजन करता है तो स्मरण तो रहता ही है कि इस तरह कल खाया था, यह वही चीज है, यह हितरूप है, उसको फिर खाने लगता है, तो स्मरण ज्ञान में भी तो प्राप्य अर्थ बनता है।

जैसे रात्रि के समय अंधेरे में कोई पुरुष बाहर जाना चाहता है तो टटोलता हुआ दरवाजे पर पहुंचता है, किस बल पर पहुंचा? स्मरणज्ञान के बल पर ही तो पहुंचा। तो स्मरण का विषय जो द्वारा था, सो द्वारा उसको प्राप्य हो गया। तो प्राप्य अर्थ वाला होने से स्मरणज्ञान प्रमाण बन जाता है। तो इस प्रकार क्षणिकवादी अनुमान की प्रमाणता कायम रखना चाहते, सो जो अनुमान की प्रमाणता कायम रखना चाह रहा है वह स्मरण का निराकरण नहीं कर सकता है।

अर्थ के अभाव में संस्कार की अशक्यता होने के कारण संस्कारसहकारी मन से जायमान स्मरणज्ञान में भी अनर्थवत्ता का अभाव होने से प्रामाण्य की सिद्धि—अब यहाँ क्षणिकवादी शङ्काकार कहता है कि स्मरण तो संस्कार के सहकारी मन के द्वारा उत्पन्न होता है। वहाँ अर्थ की कोई अपेक्षा नहीं। वह तो संस्कार की चीज है। ख्याल आया और स्मरण बना। तो अर्थ की अपेक्षा न रखकर संस्कार के सहयोग से मन के द्वारा ही स्मरण की उत्पत्ति होती है, इस कारण से स्मरण ज्ञान अर्थवान नहीं है और जब स्मरणज्ञान अर्थवान नहीं है तो उसे जिसने ख्याल किया वह पदार्थ है ही नहीं, तो स्मरणज्ञान कैसे प्रमाण हो सकता है? ऐसी शङ्का करने वाले शङ्काकार की एक मोह और मद प्रलाप भरी चेष्टा तो देखो। कह रहा है यह शङ्काकार कि संस्कार के सहकारी मन के द्वारा उत्पन्न होता है स्मरण तो देखो इसका अर्थ यही तो हुआ कि संस्कार के होने पर ही संस्कारमूलक प्रवृत्ति बनी। तो भला कोई भी बताये कि पदार्थ न हो तो क्या संस्कार बन सकता है? यह तो सब मनमाना प्रलाप है और देखो स्वयं भी क्षणिकवादी लाभ तो उठा रहे हैं स्मरणज्ञान का, जिसका विषय अर्थ को नहीं बताता, ऐसा स्मरण से भी प्रवृत्ति करते हुए ये क्षणिकवादी अपना सब काम चला रहे हैं। तो जो भी काम चला रहे हैं वे सब अर्थ प्राप्य है सो ही तो चल रहा है, तब संस्कार बिना अर्थ के तो न हुआ। संस्कार के होने पर ही स्मरण तो माना और संस्कार अर्थ के बिना बनता नहीं, तो यही अर्थ हुआ कि स्मरण का विषयभूत पदार्थ होता है। स्मरण ज्ञान अर्थवान है और वह प्रमाणभूत है।

प्रमाणसामग्री में सम्मिलित ज्ञान में भी स्वतंत्र प्रामाण्य—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि जिस स्मरणज्ञान से

मानसिक प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न होता है वह स्मरणज्ञान प्रमाण की सामग्री शामिल है और तब वह प्रवृत्ति करने वाली है। इस कारण से स्मरण को गौण प्रमाण मान ले, पर मुख्य प्रमाण नहीं है, क्योंकि स्मरण प्रत्यक्षप्रमाण की सामग्री है। जैसे कि जब अनुमान ज्ञान बनता है तो उसमें साधन और साध्य के सम्बन्ध का स्मरण चलता है। याने जैसे जहाँ-जहाँ धुवां होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धुवां नहीं है ऐसा सम्बन्ध का स्मरण होता है और उस स्मरण से अनुमान बनता है तो जैसे वह स्मरण अनुमान प्रमाण की सामग्री भर है। मुख्य प्रमाण नहीं है। यद्यपि साध्य साधन के सम्बन्ध का स्मरण अनुमान प्रमाण बनने में काम दे रहा है तिस पर भी वह अविनाभाव का स्मरण अनुमान प्रमाण की सामग्री भर है। इस कारण वह गौण प्रमाण है। मुख्य प्रमाण तो अनुमान है, ऐसे ही जिस स्मरणज्ञान से मानसिक प्रत्यक्ष हुआ तो वह स्मरणज्ञान जो कुछ प्रवृत्ति कराता है सो प्रत्यक्ष प्रमाण की सामग्री बनकर प्रवृत्ति कराता है; अतः स्मरणज्ञान मुख्य प्रमाण नहीं है। ऐसा प्रमाण सामग्री के सिद्धान्त वाले कह रहे हैं, लेकिन उनका कहना असंगत है। कारण यह है कि स्मरण को प्रत्यक्ष की सामग्री मानकर स्मरण को उड़ा देने का जो प्रयास है वह प्रत्यक्षप्रमाण को उड़ा देगा। केवल अनुमान ज्ञान ही रह जायेगा।

प्रमणसामग्रीवादी ने यह सिद्धान्त बनाया कि स्मरणज्ञान प्रत्यक्षज्ञान की सामग्रीभर है, मुख्य तो प्रत्यक्ष प्रमाण है? तो ऐसे ही यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्षज्ञान तो अनुमान की सामग्रीभर है, मुख्य प्रमाण नहीं है। मुख्य प्रमाण अनुमान है और प्रत्यक्ष प्रमाण अनुमान की सामग्री है, क्योंकि जब-जब भी अनुमान प्रमाण बनता है तो साधन का प्रत्यक्ष होता है पहले। जैसे धुवां देखकर अग्नि का ज्ञान किया गया तो धुएँ का जो दिखना है याने वह प्रत्यक्षज्ञान अनुमान की सामग्रीभर है, ऐसा कहा जा सकता है, क्योंकि अनुमान प्रमाण बनने में प्रत्यक्ष प्रमाण काम आ रहा है। और इस ढंग से फिर प्रत्यक्ष प्रमाण मुख्य रह नहीं सकता। जैसे कि स्मरणज्ञान को मुख्य नहीं माना जा रहा, क्योंकि वह प्रत्यक्ष की सामग्री है, तो ऐसे ही प्रत्यक्ष प्रमाण भी मुख्य न रहेगा, क्योंकि यह प्रत्यक्षज्ञान अनुमान प्रमाण की सामग्री भर है, और जब प्रत्यक्ष ही न रहा तब फिर अन्य कुछ रहा ही? क्या? इससे सर्व विनाश से बचने की इच्छा रखने वाले प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण की भाँति स्मरण ही स्वीकार करें।

अर्थनिश्चायक व फलवान होने से स्मरणज्ञान में प्रामाण्य की सिद्धि—निष्कर्ष यह हुआ कि जब स्मरणज्ञान प्रत्यक्ष की भाँति अपने अर्थ के निश्चय करने में समर्थ है याने व्यवधानरहित फल जब स्मृति को भी मिल रहा है तो प्रत्यक्ष को जैसे प्रमाण कहा जाता है अपने विषयभूत अर्थ का परिचय करने के कारण ऐसे ही अपने विषयभूत अर्थ का निश्चय कराने के कारण स्मरण को भी प्रमाण स्वीकार करना होगा, और यह भी देख लीजिए कि प्रमाण के फल बताये गए हैं चार—छोड़ने योग्य चीजों को छोड़ देना, ग्रहण करने योग्य चीजों को ग्रहण कर लेना, उपेक्षा करने योग्य चीजों की उपेक्षा करना और अज्ञान दूर हो जाना, सो स्मरणज्ञान में भी ये चार बातें फलरूप पायी जाती हैं। स्मरण करके जो छोड़ने योग्य है उसे छोड़ दिया जाता और जो ग्रहण करने योग्य है उसे ग्रहण कर लिया जाता, उपेक्ष्य चीज की उपेक्षा कर दी जाती। और अज्ञान तो दूर ही रहा है। तो जब प्रत्यक्ष की भाँति स्मरण के भी फल हैं और प्रवृत्ति होती है, पदार्थ का निश्चय होता है तो स्मरणज्ञान भी भली-भाँति प्रमाण ज्ञान है। तो इस तरह क्षणिकवादी भी क्या, याने नैयायिक आदिक भी स्मृति को अप्रमाण

है, ऐसा पुष्ट करने में समर्थ नहीं हैं। इस विषय में विशेष और कहना व्यर्थ है। जो सीधी सही युक्तियाँ हैं उनसे ही यह सिद्ध हो जाता है कि स्मरणज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान की भाँति प्रमाणभूत है।

प्रत्यभिज्ञान प्रमाण का निर्देशन—अब प्रत्यभिज्ञान प्रमाण के विषय में प्रमाणता की बात निरखनी है। प्रत्यभिज्ञान कहते हैं उसे जिस ज्ञान में अतीत का स्मरण करके और प्रत्यक्ष पदार्थ का प्रत्यक्ष करके उन दोनों के सम्बन्ध में जो एकता या सदृशता आदिक जोड़ा जाता है वह कहलाता है प्रत्यभिज्ञान। देखा ही जा रहा है कि लोग स्व और अर्थ का प्रत्यभिज्ञान करके प्रवृत्ति किया करते हैं और अर्थों को प्राप्त कर लेते हैं जो आकांक्षा है उसके, अनुसार अपना व्यवहार करते हैं, इस कारण दर्शन और स्मरण के कारण से उत्पन्न हुआ जो प्रत्यभिज्ञान है वह प्रमाणभूत है। हां, इसके विरुद्ध कुछ ज्ञासि बने वह प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नहीं है याने हो तो सदृशता और जान लें एकता तो वह प्रत्यभिज्ञानभास है। हो तो एकता और जान लें सदृशता तो वह भी प्रत्यभिज्ञानभास है। जो यथार्थ प्रत्यभिज्ञान है, जिसके द्वारा जानकर उस प्रकार की प्रवृत्ति भी कर लेते हैं वह प्रत्यभिज्ञान है। वह प्रत्यभिज्ञान दो प्रकार का है—एकत्व प्रत्यभिज्ञान, सादृश्यप्रत्यभिज्ञान, अथवा कहना चाहिए एकत्वप्रत्यभिज्ञान और प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान। अतीत का वर्तमान के साथ सदृशता कहना, भिन्न ना कहना, छोटा बड़ा कहना, दूर पास बताना—यह सब प्रतियोगी विधि से परिचय है। तो वह प्रत्यभिज्ञान दो प्रकार का है—एकत्वप्रत्यभिज्ञान और सादृश्य प्रत्यभिज्ञान, जिसका विषय अतीत और वर्तमान के बीच रहने वाला एकत्व विषय है, वह एकत्व प्रत्यभिज्ञान है और अतीत एवं वर्तमान भिन्न पदार्थ के साथ जो सदृशता का विषय करता है। वह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है। जैसे किसी पुरुष को एक वर्ष पहले देखा था उसे आज देखते हैं तो यों जानना कि यह वही पुरुष है जिसको एक वर्ष पहले देखा था, या अमुक जगह देखा था, यह एकत्व प्रत्यभिज्ञान है, वह पदार्थ एक ही है, अतीत की पर्याय में भी यही, वर्तमान पर्याय में भी यही है। उस ही एक में एकता का परिचय हो रहा है, यह है एकत्व प्रत्यभिज्ञान का विषय। सादृश्य प्रत्यभिज्ञान का विषय भिन्न पदार्थों में होता है। जैसे पहले गाय को तो देखा ही है, बन में यदि रोझ देखा जाये तो यों परिचय हुआ ना कि यह तो गाय के सदृश है। तो भिन्न दो पदार्थों में सदृशता का प्रत्यभिज्ञान किया, तो ऐसे प्रत्यभिज्ञान दो प्रकार के होते हैं और वे सब निर्दोष हैं।

प्रत्यभिज्ञानों में संकर व्यतिकर दोष का अनुपद्रव—प्रत्यभिज्ञानों में संकर और व्यतिकर दोष नहीं होते। संकर दोष के मायने यह हैं कि अनेक धर्मों का एक साथ लग जाना याने वही विषय एकत्व का भी हो जाये और सादृश्य का भी हो जाये, ऐसा हो सकता हो तो संकर दोष है, पर ऐसा है ही नहीं। एकत्व प्रत्यभिज्ञान में एकत्व का ही परिचय है। सादृश्य प्रत्यभिज्ञान में सादृश्य का ही परिचय है। व्यतिकर दोष उसे कहते हैं, कि एक की दूसरे के विषयों में गति हो जाये, याने सादृश्य प्रत्यभिज्ञान में एकत्व प्रत्यभिज्ञान आ जाये या एकत्व प्रत्यभिज्ञान में सादृश्य प्रत्यभिज्ञान हो जाये, ऐसा विषयों में गमन बने अर्थात् कोई ज्ञान एक दूसरे ज्ञान के विषय में चला जाये तो व्यतिकर दोष है। ऐसा भी नहीं है, इस कारण से यह प्रत्यभिज्ञान निर्दोष है। जैसे लोग कह तो देते हैं कि ये वही केश हैं जो एक माह पहले काटे गए थे। किसी पुरुष ने एक माह पहले केश कटाया था, अब एक माह में बढ़ गए। अब फिर कटवा रहा? तो वह या और कोई सोचता है कि ये बाल तो वे ही हैं जो एक माह पहले काटे गए थे। ऐसा कोई प्रत्यभिज्ञान करे तो वह दोष सहित है जो पहले काटे

गए थे वे तो न जाने कहाँ पड़े हैं ? कहीं घूरे में हों, कहीं गड्ढे में पड़े हों, पता नहीं कहाँ पड़े हों । आज जो केश कट रहे हैं वे नवीन हैं । यह तो कह सकते हैं कि जो केश कट रहे हैं ये एक माह पहले कटे केशों के सदृश है, सादृश्य प्रत्यभिज्ञान तो बनता है, मगर इसमें कोई एकत्र प्रत्यभिज्ञान का रूप बनाये तो वह दूषित है । इसी तरह मानो कोई दो बालक एक साथ पैदा हुए, समान ही शङ्क के हैं, समान ही आवाज के हैं । अब उनमें जैसे दो नाम पड़े हैं मानो मोहन और सोहन । अब मोहन ही तो बालक खड़ा है और कहा जाये कि यह तो मोहन के सदृश है । तो थी तो एकता, मगर कह बैठे सदृशता इस कारण से इनमें दोष आया । तो यह दोष आया, लेकिन यह सत्य प्रत्यभिज्ञान नहीं है । भ्रम करके लोग ऐसा कहते हैं और वह प्रत्यभिज्ञानभास है । तो सादृश्य प्रत्यभिज्ञान में और एकत्र प्रत्यभिज्ञान में संकर व्यतिरिक्त दोष नहीं होते । परीक्षा करने से पहिचान करने से ये सब बातें स्पष्ट विदित हो जाती हैं ।

प्रत्यभिज्ञान के कारणभूत प्रत्यक्षज्ञान व स्मरणज्ञान से विविक्त प्रत्यभिज्ञान का विषय पर्यायों में व्यापी एक द्रव्य—अब यहाँ एक शङ्काकार कहता है कि भाई प्रत्यभिज्ञान में दो बातें समझी गई थीं—एक तो जो अतीत हो गया उसका स्मरण हुआ, दूसरे जो वर्तमान में दिख रहा उसका प्रत्यक्ष हो रहा । तो अब यहाँ वर्तमान का जो प्रत्यक्षज्ञान है वह तो अतीत विषय को नहीं जान पाता और जो अतीत विषय का स्मरण है वह वर्तमान प्रत्यक्ष के विषय का नहीं जानता । तो जब इन दोनों का एकपना नहीं बन रहा तो यह प्रमाण कैसे हो सकता? प्रत्यक्ष ज्ञान तो कुछ विचार ही नहीं करता । वह तो मात्र साक्षी द्रष्टा जैसा है । तो उस प्रत्यक्ष ज्ञान का जब अतीत विषय नहीं है तो प्रत्यभिज्ञान बन कैसे जायेगा? ऐसी शङ्का पर समाधान यह है कि यह शङ्का नहीं, किन्तु खुद समाधान है । वास्तविकता यह ही है कि वर्तमान प्रत्यक्ष अतीत स्मरण के विषय को नहीं जानता और अतीत स्मरण वर्तमान प्रत्यक्ष को नहीं जानता, क्योंकि ये दो ज्ञान भिन्न-भिन्न है, लेकिन ये दो ज्ञान या इनमें से कोई ज्ञान प्रत्यभिज्ञान ज्ञान नहीं कहलाता । इन दो ज्ञानों से जाने गए पदार्थ में जो जोड़रूप ज्ञान है उसका नाम प्रत्यभिज्ञान है । जैसे एकत्र प्रत्यभिज्ञान में अतीत की पर्याय जाना और वर्तमान पर्याय जाना, इन दोनों के बीच व्यापक रहने वाला जो एक वस्तु है, अर्थ है, द्रव्य है वह विषय है प्रत्यभिज्ञान का । तो ये दोनों ही अर्थपर्यायें जो अतीत की जानी गई और वर्तमान में जानी जा रही है, इसमें तो भेद है, पर उन दोनों में द्रव्य से द्रव्यबल से देखा जाये तो जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह एकता का साधक है । तो प्रत्यभिज्ञान का विषय न तो दृष्ट रहा, न अतीत रहा, किन्तु दृष्ट और अतीत पर्यायों में व्यापने वाला एक द्रव्य रहा ।

प्रत्यभिज्ञान का विषय निरवधि न होने में प्रत्यभिज्ञानावरणक्षयोपशमरूप योग्यता की नियामकता—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि यदि अतीत और वर्तमान पर्याय में व्यापक द्रव्य विषय है प्रत्यभिज्ञान का, तब तो सारी पर्यायों में व्यापक एकता प्रत्यभिज्ञान से सब जाना जाये, क्योंकि उसका फिर नियामक क्या रहा? प्रत्यभिज्ञान का विषय है अतीत और वर्तमान पर्याय में व्यापक द्रव्य को जानना । तो सारा ही क्यों नहीं जान लिया जाता? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञान द्वारा समस्त पर्यायों में व्यापी एकत्र यों नहीं जाना जा सकता कि उसका नियामक है, प्रत्यभिज्ञानावरण का क्षयोपशम जितना होता है उतना ही पर्यायों में व्यापी एकत्र जाना जा सकता है । ऐसा क्षयोपशम होता क्यों है? यह तो प्रत्येक जीवों के अपने-अपने भावों के कारण की बात है । जैसी कषायों की मंदता जिसके पायी जायी जाती है उसके अनुसार क्षयोपशम होता जाता है और जिसका

जैसा क्षयोपशम है उसके अनुसार उसके ज्ञान का विषय बनता है। हाँ, श्रुतज्ञान द्वारा तो समस्त पर्यायों में व्यापी एक द्रव्य ज्ञान लिया जाता है, पर प्रत्यभिज्ञान द्वारा नहीं जाना जाता। प्रत्यभिज्ञान द्वारा तो क्षयोपशम के अनुसार जैसी पूर्व पर्यायों की विशेष धारणा हुई हो उसके अनुरूप यथायोग्य ही अतीत पर्यायों का स्मरण बनता है। और उन पर्यायों में जो व्यापक एक द्रव्य है उसका प्रत्यभिज्ञान होता ही है। उसका कौन निवारण कर सकता? क्षयोपशम के अनुसार प्रत्यभिज्ञान जीवों के बन रहा है यह बात प्रतीति सिद्ध है। ऐसी प्रतीतियां तो प्रायः हर एक कोई कर लेता है कि जो ही मैं बालक था, जो ही मैं कुमार अवस्था में था, युवावस्था में था वही अब मैं बूढ़ा हो गया हूँ, अतीत और वर्तमान पर्यायों में एकता की जोड़ रूप से सभी की प्रतीतियां चल रही हैं। इस प्रत्यभिज्ञान का कौन निवारण कर सकता है?

संक्लेश, वेदना, भिन्नसाधनता आदि कारणों से परोक्ष ज्ञानों का प्रतिघात—एक बात यहाँ सोची जा सकती है कि जब हम १०-५ वर्ष पहले की बातों का स्मरण कर लेते हैं प्रत्यभिज्ञान कर लेते हैं तो मरण हो जाने के बाद दूसरे मिनट ही हम कुछ भी प्रत्यभिज्ञान या स्मरण नहीं कर पाते। इसका कारण क्या है? कारण यह है कि मरण के समय जो वेदना होती है और अन्य भव धारण करने के समय जो तीव्र वेदना होती है उस वेदना से ऐसा उपयोग बदल जाता कि पूर्व स्मृति सब भंग हो जाती है। जब यहाँ ही हम देखते हैं कि कोई थोड़ासा दुःख हो गया या कोई विकल्प कर लिया तो उस कष्ट में हम पहली सब बातों को भूल जाते हैं। फिर तो यह एक जन्ममरण का कठिन दुःख है। उस दुःख में सब पूर्व स्मृतियां समाप्त हो जाती हैं। और फिर ये स्मृतियां नैमित्तिक हैं। नया मन मिला, नया देह मिला, अब उसके अनुकूल स्मृतियां और प्रत्यभिज्ञान चलेंगे, पर यह कला है जीव में कि वह अतीत को भी जाने, वर्तमान को भी जाने और उनमें व्यापक एक द्रव्य को ही जाने।

योग्यतापेक्ष होने से प्रत्यभिज्ञान की नियमितता—यहाँ कोई यह शङ्का न कर सकेगा कि जब अनुभूत पदार्थों में स्मरण होता है और तन्मूलक प्रत्यभिज्ञा बनती है तो सारे अनुभूत पदार्थों में क्यों नहीं स्मृति हो जाती और क्यों नहीं उससे प्रत्यभिज्ञान बन जाता? यह शङ्का यों नहीं हो सकती जैसा कि समाधान पहले दिया गया उसके अनुसार समझें तो यही उत्तर आता है कि उस प्रकार की योग्यता की हानि है याने सारे अनुभूत पदार्थों में प्रत्यभिज्ञान बना लें, स्मरण बना लें, ऐसी योग्यता नहीं है। हाँ जिन जीवों में ऐसी जितनी विशेष योग्यता है उन जीवों के वह प्रत्यभिज्ञान पाया ही जाता है। वर्तमान में भी देखा जाता है कि विशेष समझदार लोग अधिक अतीत का स्मरण कर लेते हैं। तो जितना प्रत्यभिज्ञानावरण का क्षयोपशम है उसके अनुसार अनुभूत पदार्थों में स्मरण के कारण से प्रत्यभिज्ञान बनता है और यह प्रत्यभिज्ञान सब जीवों में प्रतीति सिद्ध है। प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है। न कोई प्रत्यभिज्ञान का निवारण कर सकता और न कोई प्रमाणता का खण्डन कर सकता है।

अनुभवमात्र, दृष्टजातीय दर्शन व चतुराई आदि के स्मरणकारणत्व की व्यभिचारिता—वास्तविकता यह है कि स्मरण का कारण अनुभवनमात्र नहीं है अर्थात् पदार्थ का कोई पहले प्रत्यक्ष द्वारा या अनुमान आदिक प्रमाणों द्वारा अनुभव कर लिया हो तो इतना अनुभव करना मात्र ही स्मरण का कारण नहीं होता। इसका कारण यह है कि यदि अनुभव मात्र स्मरण का कारण बन जाये तो सब जीवों को सब जगह अपने अनुभव

किए हुए अर्थ का स्मरण हो जाना चाहिए। हो ही जाना चाहिए, पर ऐसा तो नहीं है। अनुभवन तो बहुत हुए, परिचय बहुत है, मगर स्मरण किसी का ही हुआ करता है। तो इस कारण अनुभव कर लेना मात्र याने पहले किसी पदार्थ को जान लेना मात्र स्मरण का कारण नहीं है। तो कोई यह कहे कि जैसा अनुभव किया था, जिस पदार्थ को देखा था उस पदार्थ की तरह का कोई अन्य पदार्थ आज दिख जाये तो वह स्मरण का कारण है। जैसे किसी की छतरी गुम गई और दूसरे को छतरी लिए हुए देखा तो स्मरण हो जाता है तो यों जाने हुए पदार्थ के सदृश जो अन्य पदार्थ है उसका दिख जाना स्मरण का कारण बन जायेगा। सो यह भी विचारयुक्त नहीं है, क्योंकि देखे गए, जाने गए पदार्थ के सदृश अन्य पदार्थों का दर्शन हो जाना यदि स्मरण का हो तो फिर सभी का क्यों नहीं स्मरण हो जाता? किसी को स्मरण क्यों नहीं होता? इष्ट पदार्थ से सजातीय पदार्थ अनेक दिखते हैं, पर स्मरण नहीं होता, इस कारण देखें गए, परिचय किए गए पदार्थों के सजातीय पदार्थ का दर्शन भी स्मरण का कारण नहीं है। तब कोई कहता है कि वासना का जग जाना स्मरण का कारण होता। तो ऐसा कहने वाले लोग यह तो बतायें कि स्मरण का जागरण होता कैसे है? यदि वे यह कहें कि सजातीय पदार्थ दिखता भी है तो भी वासना नहीं जगती। तो इस तरह भी तो स्मरण का कारण अनुभव मात्र नहीं रहा। याने जो नियम से स्मरण पैदा कर दे इस तरह के कारण की चर्चा चल रही है और न इष्ट सजातीय पदार्थ का दिखना रहा, न वासना का जागरण रहा और इसी तरह कोई यदि ऐसा ख्याल करे कि किसी देखी हुई वस्तु की इच्छा करना स्मरण का कारण होगा या कोई प्रकरण, प्रसंग अवसर पा लेना स्मरण का कारण होगा या चतुराई रंज वियोग संयोग आदिक स्मरण के कारण होंगे, सो ये सब भी स्मरण के अव्यभिचारी हेतु नहीं हैं। भले ही ये सब बातें निमित्त पड़ती हैं, पर ये सब उपचरित निमित्त हैं। वास्तविक निमित्त तो स्मरण ज्ञानावरण का क्षयोपशम है।

स्वावरणक्षयोपशमरूप योग्यता से स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदि का प्रमाणों का नियमन—अब यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि अविद्या की वासना का प्रलय हो जाना स्मरण का कारण है अर्थात् जो अज्ञान की वासना जमी हुई है वह वासना हटी कि स्मरण बन जाता है, ऐसे स्मरण का कारण रहा अविद्या वासना का विनाश। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि हेर-फेर के शब्द से क्यों कहा जा रहा है अथवा कहो, कोई हानि नहीं, लेकिन अविद्या वासना का विनाश होना, इसका यही अर्थ है कि स्मरणावरण प्रकृति का क्षयोपशम होना अथवा योग्यता होना, क्योंकि उस योग्यता के होने पर, स्मरणावरण के क्षयोपशम होने पर जो एक भलीभांति उपयोग वाली वासना होती है वस उसी का ही नाम वासना का जागरण है। अविद्या की वासना को विनाश है, तब एक नाम मात्र का भेद है। चाहे कोई अविद्या वासना का विनाश कारण कहे स्मरण का और कोई स्मरणावरण का क्षयोपशमरूप योग्यता कारण कहे स्मरण का, केवल नाम मात्र का भेद है। तब स्पष्ट बात यह बनी कि स्मरणावरण का क्षयोपशम रूप अंतरंग निमित्त होवे और बहिरंग भी कोई निमित्त होवे। जैसे इष्ट पदार्थ के सजातीय पदार्थ का दर्शन हो, अभिलाषा हो, प्रकरण आये, शोक हो, वियोग हो, संयोग हो, ऐसा कोई बहिरङ्ग कारण मिले तो वहाँ स्मरण की उत्पत्ति होती है और उस स्मरणज्ञान से जानकर तदनुरूप प्रवृत्ति होती है। यदि स्मरणावरण क्षयोपशम न हो तो कभी स्मरण नहीं हो सकता। अगर स्मरणावरण कर्म के क्षयोपशम के न होने

पर स्मरण हो जाये तब तो कुछ कैद ही न रहेगी, समस्त दिखे, अनुभवें पदार्थों का स्मरण हो बैठेगा अथवा जो न देखे गए पदार्थ हैं उनका भी स्मरण हो जायेगा। इस कारण ऐसा सिद्धान्त स्वीकार करना चाहिए कि स्वयं जिन-जिनका अनुभव किया जा चुका, ऐसा किन्हीं अतीत पर्यायों में से सभी का स्मरण नहीं होता, किन्तु जहाँ प्रयोजन प्रकरण आदिक बहिरंग कारण मिलें और स्मरणावरण का क्षयोपशमरूप अंतरंग कारण रहे वहाँ स्मरण बनता है, और ऐसे स्मरण का कारण पाकर प्रत्यभिज्ञान होता है। अतः जैसे स्मरण सभी अतीत का नहीं होता, ऐसे ही प्रत्यभिज्ञान भी सभी अतीत पर्यायों में व्यापक एकत्र का ज्ञान नहीं होता। फिर शंकाकार ने जो यह आपत्ति दी थी कि प्रत्यभिज्ञान अगर अतीत पर्यायों में व्यापक द्रव्य को जानता है तो वह सभी अनन्त पर्यायों में व्यापक द्रव्य को जाने ले, ऐसा प्रसंग हो जायेगा। सो यह दोष न रहा। एक तो प्रत्यभिज्ञानावरण का क्षयोपशम चाहिए और प्रत्यभिज्ञान बनने का कारणभूत जो स्मरण है उसके लिए भी स्मरणावरण का क्षयोपशम चाहिए और यह होता है कुछ-कुछ रूप में, इस कारण प्रत्यभिज्ञान नियमित ही होता है।

स्वावरणक्षयोपशमरूप योग्यता के कारण—अब यहाँ किसी को यह जिज्ञासा होती है कि वह प्रत्यभिज्ञान की योग्यता बनती किस तरह है? तो ऐसी जिज्ञासा रखने वालों का समाधान करते हैं। प्रथम तो यह समझना चाहिए कि प्रत्यभिज्ञान जीवों के कम अधिक आदिक रूप से नाना प्रकार का होता है। सो मल से ढकी हुई मणि के मैल का जिस तरह के अंशों में अलगाव होता है याने मणि के मैल को कई तारतम्यों से जैसे दूर किया जाता है उस उस प्रकार से उस मणि में स्वच्छता देखी जाती है। मणि तो स्वयं स्वच्छ है, पर मणि पर मैल आया हो तो जिस-जिस दर्ज का मैल हटे उस-उस दर्जे में स्वच्छता मणि पर प्रकट होती है। इसी प्रकार पूर्वबद्ध कर्मों से आत्मा का ज्ञान ढका हुआ है। अब क्षयोपशमरूप योग्यता जिस-जिस प्रकार की होती है उस-उस प्रकार में आत्मा का ज्ञान होता है। तो जैसे स्वर्ण को अनेक बार शुद्ध करते हैं तब उसमें विशुद्धता प्रकट होती है, धीरे-धीरे उसमें स्वच्छता योग्यता आती है, इसी तरह आत्मा भी जब एक अपने ज्ञानस्वरूप की आराधना का अभ्यास करता है तो अभ्यास के अनुरूप धीरे-धीरे स्वच्छ अवस्था प्रकट होती है। तो जो धीरे-धीरे स्वच्छता की योग्यता बनी वह आवरण कर्म के हटने से बनी ना। तो जैसे-जैसे जीवों का ज्ञान पौरुष, विशुद्ध पौरुष होता है वैसे ही वैसे क्षयोपशम योग्यता बढ़ती है, बनती है और उसके अनुरूप परिज्ञान होता है। प्रत्यभिज्ञानावरण का दूर होना जैसे नाना प्रकार का है तो उसकी विविधता से ज्ञान के स्वरूप की अभिव्यक्ति भी नाना प्रकार की बनती है। जैसे मणि के मैल का दूरीकरण नाना प्रकार का है तो मणि की स्वच्छता की अभिव्यक्ति भी नाना प्रकार की है। और वह मैल हटा उसका भी कारण है। याने ज्ञानावरण का उपशम क्षयोपशम आदिक जो स्थितियाँ बनती हैं उनका कारण उसके योग्य वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव स्वरूप पदार्थ है, जिसके साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध हो वह सब उसका कारण है। तो इस सम्बन्ध में और विशेष क्या कहना? प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है और यह बात सबकी प्रतीति से सिद्ध है और वह प्रत्यभिज्ञान, एकत्रप्रत्यभिज्ञान और सादृश्य प्रत्यभिज्ञान—इस तरह दो प्रकार का कहा गया है।

संवाद का अभाव बताकर प्रत्यभिज्ञान को अप्रमाण बताने की एक आशंका—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि द्रव्य के भूत और वर्तमान पर्याय में जैसा एकत्र का परिचय बनाया वह या एक समान दो पदार्थों में पर्यायों में सादृश्य का परिचय वह—ये दोनों ही प्रतीतियाँ अर्थात् एकत्रप्रत्यभिज्ञान और सादृश्यप्रत्यभिज्ञान वास्तविक अर्थ

को विषय नहीं करते, क्योंकि उन प्रतीतियों में सम्बाद नहीं है। जिस-जिस प्रतीति में सम्बाद नहीं होता वे सब प्रतीतियां अवास्तविक होती हैं। जैसे कोई ऐसी प्रतीति करे कि आकाश के केशों की बहुत अच्छी चोटी गँथी है या आकाश के फूलों की बहुत सुन्दर माला है तो उसकी इस प्रतीति में सम्बाद तो नहीं है, अर्थात् किसी प्रमाण द्वारा यह सिद्ध नहीं होता, तो ऐसे ही एकत्वप्रत्यभिज्ञान और सादृश्यप्रत्यभिज्ञान का जो विषय माना है उस विषय का परिचय बताना और उससे एकत्वप्रत्यभिज्ञान या सादृश्यप्रत्यभिज्ञान की सिद्धि बनाना यह तो जबरदस्ती की कल्पना है। उन ज्ञानों का विषयभूत पदार्थ वास्तविक है ही नहीं। अतएव हम सादृश्यप्रत्यभिज्ञान और एकत्वप्रत्यभिज्ञान का निराकरण तो नहीं करते, क्योंकि ऐसी प्रतीतियां लोगों को बन रही हैं, पर तथ्य यही कहते हैं कि, ये प्रतीतियां अनर्थविषयक हैं, याने इन प्रतीतियों का विषय अर्थ नहीं है, क्योंकि उनमें सम्बाद का अभाव है। आकाश के फूलों की माला का परिचय बताना, इसमें सम्बाद तो नहीं है, प्रमाणसिद्ध नहीं है इसलिए अवस्तु है, इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान का विषय भी अवस्तु है।

संवाद का अर्थ प्रमाणान्तरसंगम मानने पर शंकाकाराभिमत प्रमाण के उच्छेद का प्रसंग बताते हुए उक्त शङ्खा का समाधान—अब उक्त शङ्खा के समाधान में कहते हैं कि ये शंकाकार यह बतायें कि सम्बाद नाम किसका है, जिस सम्बाद के न होने से प्रत्यभिज्ञान को अप्रमाण बताया जा रहा। शंकाकार यदि यह कहे कि सम्बाद नाम है अन्य प्रमाण का संगम होना। जो जाना गया है उसकी सिद्धि अन्य प्रमाण से ही ले वह तो है अर्थ विषय सही और जिस प्रतीति की सिद्धि अन्य प्रमाण से नहीं होती वह है अवस्तु। तो इस तरह प्रमाणान्तर के संगम होने का नाम यदि सम्बाद कहा जाता है तो शंकाकार का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं सिद्ध हो सकता। फिर प्रत्यक्ष भी प्रमाण न रहेगा, क्योंकि इन क्षणिकवादियों ने प्रत्यक्ष का विषय कहा है स्वलक्षण। सो स्वलक्षण के समय में अनुमान की प्रवृत्ति तो होती ही नहीं, अनुमान तो बहुत समय बाद बनता है, पर उस ही समय में प्रत्यक्ष प्रमाण भी नहीं बन पाता, क्योंकि जब पदार्थ निष्पन्न हो तब तो प्रत्यक्ष न जाने तो निष्पन्न हुए बाद पदार्थ रहता नहीं। तो लो प्रत्यक्ष ने अवस्तु जाना और साथ हो उस प्रत्यक्ष के जाने हुए विषय में अन्य प्रमाण का संगम न हो सका। इस कारण प्रमाणान्तर के संगम को सम्बाद कहने पर प्रत्यक्ष में भी सम्बाद सिद्ध नहीं हो पाता, क्योंकि क्षणिकवादियों के सिद्धान्त के अनुसार अनुमान अवस्तुभूत सामान्य में लगता है, और अनुमान स्वलक्षण को छू भी नहीं सकता, तब प्रत्यक्ष प्रमाण संवादी नहीं रह सकता।

प्रत्यभिज्ञान के विषयभूत अर्थ में प्रमाणान्तरसंगमरूप संवाद के अभाव की शंका करने वालों के प्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष के विषयभूत अर्थ में अनुमान की भाँति प्रत्यक्षान्तर के संगम का अभाव होने से अप्रमाणता का प्रसंग—शंकाकार का यह पक्ष था कि प्रत्यभिज्ञान पदार्थ को विषय नहीं करता, क्योंकि उसमें सम्बाद नहीं है, इस कारण प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नहीं है। तो इस पर सम्बाद का अर्थ पूछा गया, उस विषय में शंकाकार का यह मंतव्य आया कि प्रत्यभिज्ञान के विषय में अन्य प्रमाणों का संगम नहीं है अर्थात् उस विषय को अन्य प्रमाण ने नहीं जाना। जैसे कि एक बात को कोई पुरुष देखकर आया, अब वह सच है यह बात तब ही समझी जायेगी जब कि उसी वस्तु को दूसरा भी देख ले। तो इसी तरह इस शंकाकार का सिद्धान्त है कि प्रत्यभिज्ञान ने जो विषय किया उसको अगर दूसरा प्रमाण भी समझ सके तब तो सम्बाद कहा जायेगा। सो ऐसा कोई अन्य

प्रमाण का संगम हो नहीं रहा, इस कारण प्रत्यभिज्ञान सम्बादरहित होने से अप्रमाण है। उसके उत्तर में संक्षेप से कुछ बात बता दी गई कि यदि अन्य प्रमाण के संगम होने को सम्बाद कहते हो और उस सम्बाद से प्रमाणता मानते हो तो प्रत्यक्ष के विषय में अनुमान प्रमाण भी नहीं लगता। तो प्रत्यक्ष भी सम्बादरहित हो गया और अप्रमाण हो गया।

इस प्रसंग के निवारण करने के लिए अब शंकाकार यदि यह कहे कि प्रमाण के विषयभूत स्वलक्षण में अन्य प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति हो जायेगी और इस तरह सम्बाद बन जायेगा, सो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि वस्तु का ही नाम स्वलक्षण है और वस्तु एक क्षण के लिए होती है, दूसरे क्षण में पदार्थ रहता नहीं, ऐसा इन शंकाकार क्षणिकवादियों का सिद्धान्त है। तो अब यही बहुत गनीमत है कि स्वलक्षण ने एक प्रत्यक्ष प्रमाण को उत्पन्न कर लिया, हालांकि उसमें भी समयभेद है। चलो इस पर भी दृष्टि न दें। और मान लो कि वस्तु जिस क्षण उत्पन्न हुई है उस वस्तु ने एक प्रत्यक्ष को उत्पन्न कर दिया। अब वह वस्तु एक प्रत्यक्ष प्रमाण को उत्पन्न करके नष्ट हो गई। अब जब वस्तु रही ही नहीं तो वह दूसरे प्रत्यक्ष को कैसे उत्पन्न करेगी? तो दूसरा प्रत्यक्ष बन नहीं सकता उस वस्तु के बारे में, तो प्रमाणान्तर का जब संगम न रहा तो प्रत्यक्ष प्रमाण भी सम्बादरहित बन गया। और दूसरी बात यह है हि किसी प्रकार जबरदस्ती पहले प्रत्यक्ष में सम्बाद भी मानो तो उस प्रत्यक्ष का सम्बादपना तो दूसरे प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति से माना जायेगा। जैसे कि अभी कह ही रहे हैं कि प्रत्यक्ष के विषय को दूसरा प्रत्यक्ष जानता है, इसलिए सम्बाद है तो इतना तो यहाँ सिद्ध हुआ कि पहले प्रत्यक्ष का सम्बादपना दूसरे प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति से ही माना गया है। तो अब यह बतलाओ कि दूसरे प्रत्यक्ष का सम्बादपना किससे माना गया? तीसरे प्रत्यक्ष से और उस तीसरे प्रत्यक्ष का सम्बादपना चौथे से। तो इस तरह सम्बाद की अनवस्था हो जायेगी। तो यह कहना कि प्रत्यभिज्ञान में प्रमाणान्तर का संगम नहीं है, इसलिए सम्बादरहित है और अप्रमाण है। तो यों तो प्रत्यक्ष के विषय में भी प्रमाणान्तर का संगम नहीं है, इस कारण प्रत्यक्ष भी सम्बादरहित हो जायेगा, अप्रमाण हो जायेगा। इस तरह अनेक उल्लङ्घनों में फंसने के बाद सोचने के बजाय सीधा ही यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है और उससे लोगों को अपने प्रयोजन की सिद्धि बनती है। अब शंकाकार स्वयं ही ऐसा समझ ले कि जैसे वह प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से प्राप्य स्वलक्षण में प्रवृत्ति मानता है अर्थात् प्रत्यक्ष से जाना, यह अमुक चीज है, उसको प्राप्त कर लेता है। अनुमान से समझा कि यहाँ यह चीज है, उसको प्राप्त कर लेता है। तो जैसे प्रत्यक्ष और अनुमान से प्राप्य अर्थ की प्रवृत्ति बन जाती है ऐसे ही प्रत्यभिज्ञान द्वारा भी जानकर उसकी प्रवृत्ति बन जाती है। फिर कौनसी कमी है कि प्रत्यभिज्ञान प्रमाण न कहलायेगा?

प्राप्य व आलंबन भिन्न-भिन्न होने से प्रत्यभिज्ञान के अप्रामाण्य की शङ्काकार द्वारा आशंका—यहाँ शङ्काकार कहता है कि देखिये प्राप्य और आलंबन ये दो चीजें होती हैं। जिस पदार्थ से ज्ञान बना है वह पदार्थ तो आलंबन कहलाता है और, ज्ञान बने बाद जिस पदार्थ की प्राप्ति कर ली जाती है वह प्राप्य कहलाता है। तो हमारे प्रत्यक्ष में तो प्राप्य और आलंबन दोनों ही बातें एक हैं, अर्थात् जिस पदार्थ से ज्ञान उत्पन्न हुआ है, ज्ञान ने उस ही पदार्थ को पाया है, परन्तु प्रत्यभिज्ञान में आलंबन किया गया पदार्थ तो अन्य है और प्राप्त किया गया पदार्थ भन्न है। किस तरह? प्रत्यभिज्ञान से तो प्राप्त होता है पदार्थ स्वलक्षण वस्तु और प्रत्यभिज्ञान बनता

है सामान्य के आलम्बन से । स्वयं ही जैनों ने कहा था कि प्रत्यभिज्ञान का विषय पूर्व और वर्तमान पर्यायों में व्यापक द्रव्य है तो वह द्रव्य तो सामान्य रहा ना । जो विषयभूत पदार्थ है वह आलम्बन कहलाता है । तो सामान्य के आलम्बन से प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है । प्रत्यभिज्ञान बन तो गया, पर इस प्रत्यभिज्ञान ने पाया किसे? प्रवृत्ति कहां हुई? सामान्य में नहीं हुई, किन्तु वस्तु में हुई, स्वलक्षण में हुई । तो प्रत्यभिज्ञान का आलम्बन तो है अन्य और प्राप्य है अन्य, इस कारण से प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नहीं है । जिसका आलम्बन और प्राप्य एक ही पदार्थ हो वह माना जाता है प्रमाण । जैसे कि विपरीत ज्ञान में क्या होता है? आलम्बन है अन्य, प्राप्य है अन्य । जैसे सीप को चांदी जान लिया तो आलम्बन तो है चांदी, ज्ञान का जो विषय है सो आलम्बन है, मगर पास जाकर पायेगा क्या? सीप । इसीलिए तो वह मिथ्याज्ञान कहलाता है कि आलम्बन तो कुछ है और पाया जाता है कुछ । तो जहाँ आलम्बन और प्राप्य ये दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हों वह ज्ञान प्रमाण नहीं कहला सकता । यही बात प्रत्यभिज्ञान में पायी जा रही है कि प्रत्यभिज्ञान का आलम्बन तो है पदार्थ सामान्य और प्रत्यभिज्ञान से जानकर पास गया है कोई वस्तु स्वलक्षण । इस कारण प्रत्यक्ष का दृष्टान्त देकर प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण कहवा देना, यह युक्त नहीं ।

आलंबन व प्राप्य भिन्न-भिन्न होने से संवाद का अभाव मानने पर शंकाकार के प्रमाणों में भी अप्रामाण्य का प्रसंग बताते हुए उक्त शङ्खा का समाधान—अब उक्त शङ्खा के समाधान में कहते हैं कि शङ्खाकार का यह कहना कि जिसका आलम्बन अन्य हो, प्राप्य अन्य हो वह प्रमाण नहीं कहलाता । तो वही बात तो प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण में भी है । वह किस तरह, सो सुनो । क्षणिकवादियों का प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है वस्तु से, तो वस्तु जिस क्षण में है उस क्षण में भी मान लो, वस्तु ने प्रत्यक्ष को पैदा किया और प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न हुआ कीउसे उत्पन्न करता हुआ ही नष्ट हो गया । अब यह प्रवृत्ति अगर करेगा, समझेगा, प्रतिभासेगा तो किसी अन्य को, क्योंकि आलम्बन तो मिट गया । तो यहाँ भी आलम्बन और प्राप्य भिन्न हो गया । कोई भी पदार्थ जाना जायेगा तो जानकर उस पदार्थ को कोई शीघ्रता से भी पकड़ने चले तो वह पदार्थ हाथ नहीं आ सकता, जो कि ज्ञान का आलम्बन बना था । तो देखो प्रत्यक्ष प्रमाण में भी आलम्बन अन्य रहा, प्राप्य अन्य रहा, और अनुमान में तो स्पष्ट ही बात है । क्षणिकवादियों ने अनुमान का विषय सामान्य माना तो सामान्य से तो अनुमान बना, और अनुमान बनाकर पायेगा क्या वह? कोई विशेष चीज । तो लो यहाँ भी आलम्बन अन्य रहा, प्राप्य अन्य रहा तो यह कोई युक्ति नहीं है कि जिसका आलम्बन अन्य हो और प्राप्य अन्य हो वह प्रमाण नहीं, ऐसी हठ करने पर तो प्रत्यक्ष और अनुमान भी अप्रमाण हो जायेगा । इस तरह सीधे-सादे यह ही बात मान लेनी चाहिए कि प्रत्यभिज्ञान द्वारा यदि वही आलम्बनीय पदार्थ न भी माना जाये तो भी प्रत्यक्ष के समान प्रत्यभिज्ञान में भी सम्बाद सुव्यवस्थित है ।

अब यहाँ शंकाकार कहता है कि प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के लिये तो आलम्बन और प्राप्य में एकत्र का आरोप हो जाता है याने जो चीज ग्रहण की गई? याने जानी गई और उसके बाद जो चीज हाथ में आयीं उन दोनों में एकपने का अध्यारोप हो जाता है । इस तरह यह समझना चाहिए कि वहाँ पाया भी वही गया, जिसका कि आलम्बन किया गया था । तो इसके समाधान में भी यही बात है, प्रत्यभिज्ञान में भी यही कहना चाहिए कि प्रत्यभिज्ञान द्वारा जो गृहीत हो याने प्रत्यभिज्ञान का जो आलम्बन है उसमें और प्रत्यभिज्ञान द्वारा जो प्राप्य

है उसमें एकत्व का अध्यारोप हो जाता है। अतः वहाँ भी यहाँ समझना चाहिए कि प्रत्यभिज्ञान का जो आलम्बन था वही प्राप्त किया गया। इससे प्रत्यक्ष प्रमाण की तरह प्रत्यभिज्ञान को भी प्रमाण मान लेना चाहिए।

प्रत्यभिज्ञान की अनुमानप्रमाण से भिन्न स्वतंत्र प्रमाणरूपता—अब शंकाकार कहता है कि भाई प्रत्यभिज्ञान का काम तो चलता है, हम उसका निषेध नहीं करते, पर प्रत्यभिज्ञान कोई अलग प्रमाण नहीं है, वह अनुमानरूप ही है। अनुमान को छोड़कर प्रत्यभिज्ञान कोई स्वतंत्र प्रमाण नहीं है। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यदि ऐसी हठ की जाये कि प्रत्यभिज्ञान स्वतंत्र प्रमाण नहीं है, वह अनुमानरूप हीं है तो इस हठ के होने पर अनुमान प्रमाण की उत्पत्ति हो नहीं सकती, क्योंकि अनुमान प्रमाण की उत्पत्ति होती है तब जब प्रत्यभिज्ञान द्वारा यह निश्चय हो जाता कि यह वही हेतु है जिसका हमें निर्णय है या जिसकी व्याप्ति हमने परखी है या यह उसके समान हेतु है। जब प्रत्यभिज्ञान द्वारा ऐसा समझ लेते हैं तब अनुमान की प्रवृत्ति बनती है, व्यवहार बनता है, अनुमान प्रमाण बनता है। अब प्रत्यभिज्ञान को तो स्वतंत्र प्रमाण माना नहीं, उसे मान लिया अनुमानरूप ही तो भला जैसे अनुमानरूप प्रत्यभिज्ञान से हेतु का निश्चय होने पर अनुमान बनता था, अब उस प्रत्यभिज्ञानरूप अनुमान का भी हेतु बनाओ। उसमें भी प्रत्यभिज्ञान मिलेगा और उसे भी अनुमान मानेंगे, फिर उसका हेतु बनाओ। इस तरह एक हेतु के निर्णय के लिए ही अनेकानेक अनुमान बनाने पड़ेंगे। तो यों उन्हीं की अनवस्था हो जायेगी। फिर प्रथम अनुमान की सिद्धि ही कैसे हो सकती है? तो हेतु का प्रत्यभिज्ञान हुए बिना हेतुजन्य अनुमान ज्ञान बन नहीं पाता, इससे प्रत्यभिज्ञान मानना ही पड़ेगा और हठ करें ता अनुमानों की अनवस्था हो जायेगी। यदि इन सब दोषों के दूर करने के लिए हेतु का विचार करने वाला प्रत्यभिज्ञान स्वतंत्र प्रमाण मान लिया जायेगा तो बस ठीक है, मानना ही चाहिए, और तब सब काम बनने लगेंगे। तो इस तरह प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण मानना युक्तिसंगत ही है। तब वश्य और प्राप्य में एकत्व का अध्यारोप करके प्रमाणान्तर का संगम बनाना, उसे सम्बादी स्वीकार करना, जैसे प्रत्यक्ष और अनुमान में बताया जाता है, इसी तरह प्रत्यभिज्ञान में भी हो जाता है अन्यथा आपका सम्बाद प्रत्यक्ष और अनुमान में भी घटित न हो सकेगा।

अर्थक्रियास्थिति व परितोष की सुसंभवता होने से प्रत्यभिज्ञान में अप्रामाण्य की शङ्का करने की निर्मूलता—अब शङ्काकार कहता है कि हम तो सम्बाद इसको मानेंगे कि जो अर्थक्रिया में स्थित करा दे। जहाँ अर्थक्रिया नहीं बन सकती वह प्रमाण नहीं कहलाता। प्रत्यभिज्ञान में अर्थक्रिया सम्भव नहीं है इसलिए प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नहीं है। इस शङ्का के उत्तर में संक्षेप से तो इतना ही समझ लेना चाहिए कि इस तरह की अर्थक्रिया करने में स्थित कराना तो शङ्काकाराभिमत प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणों से भी सम्भव नहीं। जहाँ वस्तु का समय एक क्षण का ही माना गया तो प्रथम तो उससे कोई प्रमाण ज्ञान बने यह ही असम्भव है और बन जाये तो अब उसमें अर्थक्रिया कराये, यह तो बिल्कुल असम्भव है। तब अर्थक्रिया में स्थित करा देने को मानने की बात स्वयं क्षणिकवदियों के माने गए प्रमाणों में भी नहीं बनती है और फिर विशेषरूप से जब विचार करेंगे तो यह सिद्ध होगा कि जैसे सर्वथा नित्य मानने वालों में अर्थक्रिया नहीं बन पाती, इसी तरह सर्वथा क्षणिक मानने वालों के यहाँ भी अर्थक्रिया नहीं बन सकती। यदि शङ्काकार यह कहे कि पदार्थ को जो जानने वाले पुरुष हैं उनको संतोष हो जाये, बस सम्बाद हो गया। तो जानने वाले पुरुष को सन्तोष हो जाने से अर्थक्रिया में स्थित हो जाने की पहचान है और उसे सम्बाद माना गया है और ऐसा सम्बाद प्रमाणपने की व्यवस्था करता है, याने

जानने वाले को संतोष हो जाना ही सम्बाद है। तो इसका उत्तर बिल्कुल ही स्पष्ट है कि प्रत्यभिज्ञान से पुरुष जो कुछ जानता है उसके भी सम्बाद बन जाता है। प्रत्यभिज्ञान से प्रवृत्ति करने वाले पुरुष को अर्थक्रिया में स्थित होने से संतोष ही मिलता है। संतोष का अभाव नहीं है, बल्कि प्रत्यक्ष से जानकर लोग जिस तरह संतोष करते हैं इस तरह से भी अधिक संतोष प्रत्यभिज्ञान से पदार्थ को जानने वाले कर लेते हैं। इस कारण सम्बाद बराबर प्रत्यभिज्ञान में है और इस कारण उसे प्रमाण मानना ही चाहिए।

बाधका भाववैधुर्य की असिद्धि होने से प्रत्यभिज्ञान में अप्रमाणता का अप्रसंग—अब शङ्काकार कहता है कि प्रत्यभिज्ञान प्रमाण इस कारण नहीं है कि उसमें सम्बाद का अभाव है और वहाँ सम्बाद कौनसा नहीं है? बाधक का अभावरूप सम्बाद नहीं है। जिस-जिस ज्ञान में उस ज्ञान का बाधक कोई प्रमाण नहीं होता वही ज्ञान, सम्बादी कहलाता है, पर प्रत्यभिज्ञान में बाधक का अभावरूप सम्बाद नहीं हैं, अतएव प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नहीं है। यह शङ्का इस कारण व्यर्थ है कि यह बाधका भाववैधुर्य हेतु सिद्ध नहीं है। प्रत्यभिज्ञान में बाधक का अभावरूप सम्बाद नहीं, सो बराबर सब लोगों की दृष्टि में यह प्रसिद्ध है कि प्रत्यभिज्ञान में कोई बाधा नहीं आती। जैसे कि प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणों में बाधक प्रमाण का अभाव है और इसीलिए वह सम्बादी कहलाता है इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान प्रमाण से भी कोई बाधक प्रमाण नहीं है। विशेष रूप में जानना चाहते हो तो अलग-अलग भी घटा लीजिए। प्रत्यक्ष प्रमाण तो प्रत्यभिज्ञान का कभी बाधक हो ही नहीं सकता, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान ने जिस विषय को जाना उस विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं है। प्रत्यभिज्ञान जानता है अतीत और वर्तमान में व्यापक एक द्रव्य को। तो वह विषय प्रत्यक्ष का है ही नहीं, प्रत्यक्ष तो वर्तमान पदार्थ को ही जानता है। जो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है और अन्य दार्शनिकों का प्रत्यक्ष है वह पूर्वोत्तर पर्यायव्यापी द्रव्य को नहीं जानता। तो जो जिसका विषय ही नहीं, वह उसमें न साधक हो सकता न बाधक हो सकता।

जैसे कि परलोक है, इसकी सिद्धि अनुमान से होती है। अब कोई कहे कि परलोक के बारे में अन्य प्रमाण भी आना चाहिए तब तो अनुमान सम्बादक बनेगा, सही बनेगा। सो परलोक के बारे में प्रत्यक्ष की गति ही नहीं है। तो ऐसा कहना कि प्रत्यभिज्ञान का कोई प्रमाण बाधक है, यह अनुचित है, क्योंकि सब प्रमाणों के अपने-अपने भिन्न-भिन्न विषय है। तो जैसे परलोक की सिद्धि अनुमान से होती है तो उस अनुमान का बाधक या परलोक की जानकारी का बाधक प्रत्यक्ष प्रमाण क्यों नहीं है कि वह उसका विषय नहीं। तो जो जिस विषय में स्वयं प्रवृत्ति कर सकता है वही तो उस विषय में साधक अथवा बाधक बन सकेगा, अन्य के विषय में नहीं। जैसे कोई ज्योतिषशास्त्र का जानकार है, कोई व्याकरण का जानकार है। अब ज्योतिष के विषय की सिद्धि में वैयाकरण न साधक हो सकता, न बाधक। व्याकरण की सिद्धि में ज्योतिषी न साधक होता, न बाधक, तो ऐसे ही प्रत्यभिज्ञान के विषय में प्रत्यक्ष न साधक हो सकता न बाधक हो सकता। तो बाधक का अभाव प्रत्यभिज्ञान में भी है, इस कारण प्रत्यभिज्ञान सम्बादी है और प्रमाण है।

प्रत्यभिज्ञान के विषय में अनुपलब्धिरूप बाधक की सिद्धि न होने से अप्रमाणता के पक्ष की क्षति—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि देखिये—प्रत्यभिज्ञान के विषय में बाधा देने वाली अनुपलब्धि तो है। अनुपलब्धि कहते हैं न पाये जाने को। तो ऐसी अनुपलब्धि को बाधक-प्रमाण खड़ा करने वाले शंकाकार यह बतायें कि अनुपलब्धि दो प्रकार की होती है—(१) अदृश्यानुपलब्धि और (२) दृश्यानुपलब्धि। तो अदृश्यानुपलब्धि तो प्रत्यभिज्ञान में

बाधक हो ही नहीं सकती, क्योंकि अदृश्य पदार्थों में अनुपलब्धि है तो इससे कहीं उसका अस्तित्व नहीं खत्म हो जाता। हाँ प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण उस अदृश्य को पा नहीं सकते। परमाणु पिशाच आदिक अदृश्य हैं, और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष अनुमान द्वारा उनकी अनुपलब्धि हो रही है? यहाँ कोई उन्हें देख तो नहीं पा रहा; तो क्या इस अदृश्यानुपलब्धि मात्र से परमाणु के अस्तित्व का अभाव हो जायेगा? नहीं होता। तो अदृश्यानुपलब्धि प्रत्यभिज्ञान में बाधक नहीं है। अब दृश्यानुपलब्धि की बात देखें। इसका अर्थ है कि देखने योग्य है और उसकी अनुपलब्धि है, सो यह हेतु तो सिद्ध नहीं है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान के विषय में सभी लोगों के अनुभव भी होते और वह विषय दृष्ट भी होता है। सभी जगह, सभी समय प्रत्यभिज्ञान द्वारा जानने योग्य वस्तु का, उसकी योग्यता रखने वाले लोग बराबर ज्ञान कर रहे हैं। तो इस तरह अनुपलब्धि बाधक नहीं है।

प्रत्यभिज्ञान का विषय क्षणिक व विलक्षण न होने से असत् विषय बताते हुए अर्थक्रिया का अभाव बताकर प्रत्यभिज्ञान को अप्रमाण बताने की शंकाकार की शङ्का—अब शङ्काकार कहता है कि देखिये—प्रत्यभिज्ञान के सत्त्व का प्रतिघात है वह किस तरह? पहले तो वस्तु के स्वरूप का निर्णय बनायें। जो सत् हैं वे सब क्षणिक होते हैं सत् होने से, और साथ ही साथ वे सब परस्पर में विसदृश ही होते हैं। तो जो क्षणिक है, विलक्षण है वही तो सत् हो सकता है। जो नित्य है अथवा सदृश है वह कुछ भी सत् नहीं है। तो क्षणिक और विलक्षण के अतिरिक्त किसी का भी सत्त्व नहीं होता। प्रत्यभिज्ञान का विषय क्षणिक नहीं, विलक्षण नहीं। तब वहाँ सत्त्व का ही अभाव है, प्रतिघात है और साथ ही यह भी समझें कि जब प्रत्यभिज्ञान का विषय सद्भूत नहीं है तो वहाँ अर्थक्रिया भी नहीं होती, क्योंकि अर्थक्रिया से व्याप्त सत् हुआ करता है।

जो सत् है उसमें अर्थक्रिया है, जिसमें अर्थक्रिया है वह सत् है। तो जो नित्य पदार्थ है या सदृश पदार्थ है, उनमें अर्थक्रिया नहीं होती। इस कारण भी परमार्थतया प्रत्यभिज्ञान और उसके विषय का सत्त्व नष्ट हो जाता है मायने सत् नहीं है। किस प्रकार? नित्य पदार्थ में या सदृश पदार्थ में अर्थक्रिया नहीं होती। इस तरह यदि नित्य में अर्थक्रिया होती तो बताओ क्रम से होती या युगपद होती? नित्य में क्रम से अर्थक्रिया कैसी? अगर क्रम से अर्थक्रिया है तो नित्य न रहा और एक साथ कौनसी अर्थक्रिया है? यदि एक साथ अर्थक्रिया हो तो अनन्तों कार्य एक में एक साथ हो जावें। तो जब नित्य पदार्थ में और सदृश पदार्थ में अर्थक्रिया नहीं होती तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसका सत्त्व भी नहीं है। जो अंश से रहित है, क्षणिक है, विलक्षण है, ऐसे पदार्थ को (जिसका कि स्व लक्षण हैं, वास्तविक है तो जो परमार्थ पदार्थ है उसको) किन्हीं कारणों की अपेक्षा नहीं होती। तो इस तरह देख लीजिए—व्यापक की अनुपलब्धि हो रही है। प्रत्यभिज्ञान का विषय तो व्यापक ही बताया जा रहा। पहली पर्याय और अगली पर्याय इन दोनों का आधारभूत दोनों में व्यापक एक द्रव्य प्रत्यभिज्ञान का विषय कहा जा रहा, मगर ऐसी व्यापक की उपलब्धि है ही नहीं। तो इस अनुपलब्धि के द्वारा प्रत्यभिज्ञान की प्रमाणता सिद्ध नहीं होती।

प्रत्यभिज्ञान प्रमाण को मिटाने के लिये बनाये जाने वाले अनुमान की प्रत्यभिज्ञान बिना अनुत्पाति बताते हुए उक्त शंका को समाधान—उक्त आशंका के समाधान में आचार्य कहते हैं कि शङ्काकार का आखिर आशय यही तो हैं कि वस्तुभूत पदार्थ का सत्त्व अर्थक्रिया युक्त होता है। सो यह शङ्का की जा रही है कि अर्थक्रिया नित्य पदार्थ में नहीं हो पाती। तो जब अर्थक्रिया नित्य पदार्थ में नहीं है तो उसका व्याप्त सत्त्व वह भी सिद्ध नहीं

होता । इस तरह व्यापकानुपलब्धि से अर्थात् अर्थक्रिया की अनुपलब्धि से व्याप्य सत्त्व की असिद्धि बता रहे हैं । वे यह सोचें कि उन शङ्काकारों का पदार्थ है क्षणिक तो सारे पदार्थ क्षणिक माने जा रहे हैं, वे अगले समय में तो रहते ही नहीं । क्षण-क्षण में ही नये-नये उत्पन्न होते हैं । कोई किसी के सदृश नहीं । जब स्थिर हो तो सदृशता की बात सोचें । ऐसा जो सिद्धान्त माना है वह सब अपने मन की कल्पनामात्र है । वस्तुतः देखा जाये तो क्षणिकपना और सत्त्व में व्याप्ति ही सिद्ध नहीं होती, क्योंकि व्याप्ति तो तब बना करती है जब सारे देश और सारे काल में साध्यसाधन का उपसंहार कर दृष्टि बनायी जाये । और यदि सारे देश में दृष्टि बनायी जाती तो सदृशता आती । सारे कालों में व्याप्ति बनाते हैं तो अनित्यता आती है । तो ये क्षणिकवादी अनुमान द्वारा न क्षणिकपने को सिद्ध कर सकते और न विलक्षणता को सिद्ध कर सकते । तब प्रत्यभिज्ञान में यह अनुमान बाधक हो ही कैसे सकता? अनुमान भी तब बनता जब प्रत्यभिज्ञान मानें । सो अनुमान को बाधक बतायें तो उन्हें प्रत्यभिज्ञान पहले ही मानना पड़ेगा ।

सत्त्व हेतु से प्रत्यभिज्ञान के विषयभूत नित्य एवं एकत्व की प्रसिद्धि—यहां क्षणिकवाद यह कह रहे हैं कि जो भी सत् है वह सब क्षणिक होता है, सत् होने से । तो इसे अनुमान की वे व्याप्ति इस तरह से ही तो लगाते हैं कि नित्य पदार्थों के अभाव होने पर सत्त्व का निश्चय हो रहा है । तो इस व्याप्ति में उनको व्यतिरेक व्याप्ति का बल मिला । सो प्रथम तो यह बात है कि शंकाकार क्षणिकवादी व्यतिरेकी हेतु से अनुमान की सिद्धि नहीं मानते, लेकिन इसे भी ओझल करें और मानो व्यतिरेकी हेतु से अनुमान मान लिया तो ऐसी दशा में यहीं तो कहा जा सकता है कि यह जीवित शरीर जो कि रोगी है, शश्या पर पड़ा हुआ है, यह जीवित शरीर आत्मारहित नहीं है, क्योंकि श्वास नाड़ी का चलना, उष्णता बोलचाल से सहित है । यहाँ भी व्यतिरेकी हेतु से काम बनता है । व्यतिरेक व्याप्ति बनती है कि जो आत्मा सहित नहीं है वह प्राण आदिक से युक्त नहीं है, जैसे कि डला पत्थर आदिक । तो यहां एक आत्मा की सिद्धि हो गई ना, और व्यतिरेकी हेतुवों से अनुमान हुआ । क्षणिकवादियों ने आत्मसत्त्व माना नहीं तो ऐसे अनुमान प्रयोग से स्वयं क्षणिकवादियों के सिद्धान्त का विघात हो जाता है । अतः प्रत्यभिज्ञान की प्रमाणता का खण्डन करने के लिए अनर्गल प्रयास प्रयोग करना स्वयं शंकाकार के सिद्धान्त के विघात लिए है ।

अब इस प्रसंग में दूसरी बात समझिये—जो यह कहा गया था कि नित्य पदार्थ में अर्थक्रिया नहीं होती, और प्रत्यभिज्ञान का विषय बनाया है नित्य पदार्थ और वह है अर्थक्रियाशून्य । तो प्रत्यभिज्ञान का विषय अर्थ न रहा, अनर्थ हो गया, इसलिए अप्रमाण है । तो ऐसा कहने के बजाय यह ही कहना चाहिए था कि क्षणिक पदार्थ में अर्थक्रिया नहीं बनती, क्योंकि जो क्षणिक है, एक क्षण हुआ, अगले क्षण रहता ही नहीं है तो उसमें क्रम से अर्थक्रिया भी नहीं बनती और एक साथ भी अर्थक्रिया नहीं बनती है । जो निरंश है, निरात्मक है उसमें अर्थक्रिया का क्या सम्भवपना है? तो जो शंकाकार ने अनुमान बनाया था कि सब क्षणिक हैं सत्त्व होने तो इस सत्त्व की व्याप्ति तो नित्य के साथ लगती है, सब नित्य है सत् होने से, तो इस प्रकार अर्थक्रिया क्षणिक में न हो सकी तो प्रत्यभिज्ञान का विषय सिद्ध हो ही जाता है, और प्रत्यभिज्ञान का विषयभूत जब अर्थ मिला तो प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है, इसमें कोई प्रकार का संदेह न होना चाहिए ।

नित्यानित्यात्मक अर्थ का प्रत्यभिज्ञान से परिचय—प्रत्यभिज्ञान सर्वथा एकान्त का निषेध करता है । पदार्थ

नित्यानित्यात्मक है जो कि एक वास्तविकता है। उस नित्यानित्यात्मक पदार्थ का परिचय इस प्रत्यभिज्ञान से बन जाता है। पदार्थ उत्पादव्ययग्रौव्य स्वरूप है, इसकी पुष्टि एकत्वप्रत्यभिज्ञान प्रमाण से होती है। जैसे एकत्वप्रत्यभिज्ञान में कहा जाता है—यह वही पदार्थ है, जो एक वर्ष पहले था, कहीं दिखा था। तो पूर्व पर्याय से वर्तमान पर्याय भिन्न है यह भी सिद्ध हो गया, और बीच में सर्वत्र सर्वदा व्यापक रहा, यह भी सिद्ध हो गया। तो द्रव्य और पर्यायमय वस्तु हुआ करती है। कोई भी वस्तु पर्यायमात्र नहीं और पर्यायरहित द्रव्यमात्र भी वस्तु नहीं। तो द्रव्य और पर्यायों में ही नित्य और अनित्यपने का तादात्म्य चल रहा है। तो नित्यानित्यात्मक पदार्थ में द्रव्यदृष्टि से एकत्व का और सदृश परिणाम होने से प्रत्यभिज्ञान प्रमाण का बनना उचित ही है। निष्कर्ष यह हुआ कि प्रत्यभिज्ञान का विषय है अनित्य पर्यायों में व्यापने वाली एक नित्य वस्तु। न केवल अनित्य प्रत्यभिज्ञान का विषय है, न कोरा नित्य प्रत्यभिज्ञान का विषय है। अर्थक्रिया जैसे अनित्य एकान्त में नहीं बनती वैसे ही नित्य एकान्त में भी नहीं बनती। नित्यानित्यात्मक पदार्थों में ही प्रत्यभिज्ञान पाया जाता है और वह है एक तृतीय जाति का याने न कोरा नित्य है, न कोरा अनित्य है, किन्तु द्रव्य और पर्याय से तदात्मक हो रही वस्तु ही प्रमाण का विषय है प्रत्यभिज्ञान का विषय है।

इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान का बाधक प्रमाण कोई नहीं है। तो बाधक प्रमाण का अभाव होने से प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है और प्रत्यभिज्ञान द्वारा अनेक कार्य सिद्ध होते हुए देखे ही जा रहे हैं। प्रत्यभिज्ञान से ज्ञाता को संतोष भी होता। प्रत्यभिज्ञान से ज्ञाता अर्थ में प्रवृत्ति करता, प्रत्यभिज्ञान से व्यवहार होता। प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण न माना जाये तो अन्य प्रमाण भी नहीं रहते और प्रमाण जब नहीं रहता तो प्रमेय भी नहीं, तब सारा जगत् शून्य हो जायेगा इस कारण जैसे स्मृति प्रमाण है उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान भी प्रमाण है।

प्रतीतिसिद्ध प्रमाण में अप्रमाणता थोपने के कुतकों की गुञ्जाइश का अभाव—यहाँ क्षणिकवादी शङ्का करते हैं कि जो समाधान में यह बात कही है कि प्रत्यभिज्ञान की प्रमाणता के मानने में बाधक के अभाव की विधुरता नहीं है, क्योंकि एकत्व का बोध हो रहा है, तो ऐसा कहने में तो इतरेतराश्रय दोष आता हैं क्योंकि एकत्व का प्रत्यभिज्ञान होता है यह माना है। तो जब उस एकत्व की सिद्धि हो तो बाधका भाव बनने से प्रत्यभिज्ञान में प्रमाणता सिद्ध होगी और जब प्रत्यभिज्ञान में प्रमाणता सिद्ध हो ले तब प्रत्यभिज्ञान के विषयभूत एकत्व की सिद्धि होगी। यदि दूसरे प्रत्यभिज्ञान से पहले प्रत्यभिज्ञान के विषय को याने एकत्व को सिद्ध करेंगे तो अनवस्था दोष होगा। इस शंका पर समाधान करते हैं कि इस तरह की अनर्गल कल्पना करने पर तो प्रत्यक्ष से भी प्रत्यक्ष के विषयभूत नील आदिक विषयों को जानने में प्रमाणपना सिद्ध करने पर अन्योन्याश्रय दोष बराबर आता है। कैसे? कि देखो जब वासना में नील पदार्थ सिद्ध हो जाये तो नील के प्रत्यक्ष में प्रमाणपना आयेगा और जब नील के प्रत्यक्ष में प्रमाणपना सिद्ध हो ले तब नील पदार्थ की सिद्धि होगी। यों अन्योन्याश्रय दोष हो जायेगा। अगर दूसरे प्रत्यक्ष से पहले प्रत्यक्ष के विषय की सिद्धि मानेंगे तो अनवस्था दोष हो जायेगा। इस कारण जो प्रतीति सिद्ध बात है, सबके अनुभव की बात है उसका अपलाप करना उचित नहीं है। सभी लोग समझते हैं कि पदार्थ कथश्चित् नित्य है और उस कथश्चित् नित्यस्वरूप का प्रतिभास जो प्रत्यभिज्ञान द्वारा हो रहा है उससे व्यवहार भी बन रहा है और मोक्षमार्ग में या धर्मसाधन में भी उससे बड़ी सहायता मिल रही है। तो ऐसी प्रतीति सिद्ध बात का अपलाप करना चतुराई नहीं है। प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है, क्योंकि उसके विषय में कोई

बाधक प्रमाण नहीं है ।

एकत्वप्रत्यभिज्ञानप्रमाण की सिद्धि में अन्तिम प्रसंग का उपसंहार—प्रसंग यहाँ यह चल रहा है कि सिद्धान्त यह स्थापित हुआ था कि पूर्वोत्तर पर्यायों में व्यापी एक द्रव्य प्रत्यभिज्ञान का विषय है । एकत्वप्रत्यभिज्ञान इस एकत्व को जानता है और इसमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है । इस पर क्षणिकवादियों ने यह शङ्का की थी कि यहाँ तो दो बातें सिद्ध की जा रही हैं कि पूर्वोत्तर पर्यायों में व्यापी एकत्व है और उसका । विषय करने वाला एकत्व प्रत्यभिज्ञान है और इसमें किसी प्रकार का कोई बाधक प्रमाण है नहीं । तो यहाँ यह आपत्ति आती है कि जब पहले पूर्वोत्तर पर्यायव्यापी एकत्व सिद्ध हो ले तब तो बाधा विधुररूप संवाद से प्रत्यभिज्ञान में प्रमाणता सिद्ध हो सकती, क्योंकि बाधक के अभाव का अर्थ यह है कि प्रत्यभिज्ञान के विषयभूत एकत्व में कोई बाधक प्रमाण नहीं बनता । तो पहले एकत्वसिद्ध हो तो तब तो बाधकाभाव बताये और जब बाधकभाव सिद्ध हो ले जिससे कि प्रत्यभिज्ञान को प्रमाणता आती तब प्रत्यभिज्ञान से एकत्व सिद्ध होगा । यों अन्योन्याश्रय दोष होता है । उत्तर यह दिया गया था कि इस तरह अन्योन्याश्रय तो अन्य प्रमाण में भी लगाया जा सकता । जैसे प्रत्यक्ष से नील पति आदिक स्वलक्षणमय पदार्थों को जाना, अब नील आदिक से वह प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न हुआ तो यहाँ यह दोष आयेगा कि जब नील पदार्थ है यह सिद्ध हो ले तब तो प्रत्यक्ष प्रमाण बनेगा और जब प्रत्यक्ष प्रमाण बनेगा तो नील पदार्थ सिद्ध होगा ।

इस आपत्ति के निवारण के लिए क्षणिकवादी यह कहते हैं कि हमारे किसी ज्ञान में प्रमाणपने की सिद्धि यथायोग्य अभ्यास बल से स्वयं हो जाती है, इस कारण अन्योन्याश्रय दोष नहीं लगता, याने नील आदिक पदार्थों को जानने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रमाणता अपने आप सिद्ध होती है, क्योंकि ऐसा ही जानने वालों अभ्यास है, और कदाचित् अभ्यास न हो तो दूसरे तीसरे प्रमाणों द्वारा सिद्ध हो जाता है और वह दूसरा तीसरा प्रमाण अभ्यास के बल पर स्वतःसिद्ध बन जाता है, इसलिए प्रत्यक्ष अपने अर्थ का सम्बेदन करता है और वह प्रमाण है, यह अभ्यासवश स्वतःसिद्ध हो जाता है । तब हमारे प्रत्यक्ष प्रमाण में अन्योन्याश्रय दोष नहीं लगता । तब इसका उत्तर यही है कि इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान प्रमाण में भी अन्योन्याश्रय दोष नहीं लगता, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान से भी अभ्यास के बल से स्वतः प्रमाणपना सिद्ध हो जाता है । कदाचित् एक-आधे प्रमाण की ओर जरूरत पड़ी तो उस अधिक प्रमाण की भी अभ्यासदशा से भी स्वतःसिद्ध बन जाती है । इस कारणप्रत्यभिज्ञान प्रमाण है और उसमें कोई दोष सम्भव नहीं है । इस प्रकार एकत्वप्रत्यभिज्ञान निर्दोष रीति से सिद्ध हो जाता है ।

सादृश्यप्रत्यभिज्ञान का निर्देशन—अब एकत्वप्रत्यभिज्ञान की सिद्धि की तरह सादृश्यप्रत्यभिज्ञान की सिद्धि भी समझ लीजिए । सादृश्यप्रत्यभिज्ञान का विषय है कि अतीत काल में किसी पदार्थ को देखा था और अब वर्तमान में किसी अन्य पदार्थ को देख रहे हैं और वे दोनों हैं सदृश तो उनमें सदृशता का जोड़ बन जाये । ऐसे ज्ञान को सादृश्यप्रत्यभिज्ञान कहते हैं । तो वह सादृश्यप्रत्यभिज्ञान अपने और पदार्थ का निश्चय करने वाला है, इस कारण वह प्रमाण है । हाँ उससे भिन्न रूप से जाने तो प्रमाणाभास है याने सादृश्यप्रत्यभिज्ञानाभास है । जैसे हों तो दोनों विलक्षण और कह बैठें कि दोनों समान हैं या वे दोनों तो हैं नहीं, है एक ही और कहें कि यह उसके समान है तो यह सादृश्यप्रत्यभिज्ञानाभास हो जाता है । मगर जो समीचीन सादृश्यप्रत्यभिज्ञान है वह

तो बराबर व्यवस्थित है ।

शंकाकार द्वारा सादृश्य के अभाव का प्रस्ताव—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि पदार्थों में सादृश्य के ज्ञान की बात कहीं गई सादृश्यप्रत्यभिज्ञान में तो यह बतलाओ कि वह सादृश्य उन दो पदार्थों से भिन्न है या अभिन्न है? क्योंकि कोई दार्शनिक तो सादृश्य को पदार्थ से न्यारा पदार्थ नहीं मानते, कोई दार्शनिक सादृश्य को स्वतंत्र पदार्थ मानते । तो यहाँ यह विकल्प शंकाकार द्वारा उठाया जा रहा है कि वह सादृश्य जिनमें सदृशता बतायी जा रही है उन पदार्थों से भिन्न है या अभिन्न ? यदि कहो कि भिन्न है तो जब सादृश्य भिन्न है तो यह सम्बन्ध कैसे बताया जा सकता कि यह सादृश्य उनका है? अगर कहो कि सादृश्य का और उन दोनों पदार्थों में सम्बन्ध है तो सादृश्य और सादृश्यवान वे पदार्थ ये जब भिन्न-भिन्न हैं और भिन्न होने से कार्यकारण सम्बंध भी नहीं हो सकता है तो उनमें सम्बंध क्या बन गया ? अगर कहो कि समवाय है तो वह समवाय नाम किसका? क्या तह भिन्न है या उनमें मिला-जुला है? तो भिन्न है तो सम्बन्ध बनता नहीं, अभिन्न है तो वही समस्या खड़ी रही । अगर कहो कि हाँ सादृश्य में और सादृश्यवान पदार्थों में अविष्वभाव सम्बन्ध है याने एकमेक हो रहे, पृथक्-पृथक् नहीं हैं, यही एक सम्बन्ध है, तब यह बताये कोई कि उस सादृश्य की सादृश्यवान पदार्थ के साथ सर्वदेशरूप से एकता है या एकदेशरूप से एकता है? अगर कहो कि सर्वरूप से एकता है तो सादृश्य बहुत बन गए ।

जैसे किसी ने कहा कि यह रोझा गाय के सदृश है, तो सदृशता पूरे रूप से रोझ में भी एकमेक है, और सदृशता गाय में भी एकमेक है, तो दो सदृशताः हो गई । जब: दो सदृशतायें हो गर्याँ तो अब उसकी बात में सदृशता न लगाइये, क्योंकि सदृशता तो दो हैं । यदि कहो कि वह सादृश्य सादृश्यवान पदार्थों में एकदेश रूप से एकमेक है तो जब एकदेश रूप से एकमेक है सदृशता तो सदृशता के अवयव बन गए याने सदृशता का कुछ अंश इन दोनों में एकमेक है । तब, जब सदृशता के अवयव बन गए तो उसमें भी प्रश्न होगा, उन अवयवों के साथ इस अवयवी सदृशता का क्या सम्बंध है? तो प्रयोजन यह है कि सादृश्य को पदार्थों से भिन्न मानने पर सम्बन्ध नहीं बनता ।

क्षणिकवादी ही कहे जा रहे हैं अपनी शङ्का की पुष्टि में कि सादृश्यप्रत्यभिज्ञान बनता नहीं, क्योंकि सादृश्य कुछ चीज नहीं । सादृश्य पदार्थ से भिन्न तो है नहीं । यदि कहो कि अभिन्न है याने जो पदार्थ में सदृशता बतायी जा रही उन पदार्थों से सदृशता अभिन्न है तब फिर उस सदृशता से अभिन्न जो पदार्थ है वह भी एक बन जायेगा, क्योंकि सदृशता एक है और वह दोनों में अभिन्न है तो वे पदार्थ दो कहाँ रहें? एक ही रह गया । अगर कहो कि पदार्थ जब दो हैं तो सदृशता भी दो हैं । तो फिर एकपने का विरोध बन जायेगा । इस कारण सदृशता उन पदार्थों से अभिन्न भी सिद्ध नहीं होती । यदि यह कहा जाये कि सदृशता उन पदार्थों से भिन्न भी है, अभिन्न भी है तौ इसमें फिर अनेक दोष उत्पन्न होते हैं, दो धर्म आ गए । दो धर्मों में दो आधार हो गए, एकमेक हो गए । यदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं तो विचार करने पर सादृश्य कोई धर्म ही नहीं रहता, केवल कल्पना की ही चीज रहती है तो उसको विषय करने वाला प्रत्यभिज्ञान भी कोई चीज न रहा । वह प्रमाण न माना जाना चाहिए । अगर कल्पना में आयी हुई बात को सच्चाई का रूप दे-दे तो किसी के चित्त में राज्य करने की कल्पना आयी तो क्या वह सच बन गया? इस तरह सादृश्य कोई वस्तु नहीं । तो सादृश्यप्रत्यभिज्ञान

भी कोई प्रमाण नहीं है, ऐसी क्षणिकवादियों ने एक आशंका रखी ।

सादृश्य के खण्डन में दी गई युक्तियों द्वारा वैसादृश्य के खण्डन की सुगमता का प्रदर्शन करते हुए उक्त शंका का समाधान—अब उसके समाधान में आचार्य कहते हैं कि जैसा विकल्प सादृश्य के खण्डन में किया गया है वैसा ही विकल्प वैसादृश्य के खण्डन में भी किया जा सकता है । किस तरह देखिये—बताये क्षणिकवादी कि जो वैसादृश्य है, विलक्षणता है, वह पदार्थों से भिन्न है या अभिन्न? अगर कहो कि भिन्न है तो जब विलक्षणतारूप धर्म उन पदार्थों से भिन्न है, जिसकी विलक्षणता कही जायेगी तो उस विसदृशता का उन पदार्थों से सम्बन्ध ही न बन सकेगा । फिर यह कैसे कहा जायेगा कि यह पदार्थ उससे विसदृश है, विलक्षण है,? यदि कोई उसका सम्बन्ध माना जाये याने विसदृशता जिन पदार्थों में बतायी जा रही है उन पदार्थों से इस विसदृशता का सम्बन्ध है तो वह सम्बन्ध क्या? कोई अन्य सम्बन्ध तो है ही नहीं । यदि कहो कि वह सदृशता का उन पदार्थों के साथ एकमेकपना है तो यह बतायें कि सर्व रूप से एकमेकपना है या कुछ-कुछ रूप से? अगर सर्वरूप से है तो विसदृशतायें अनेक हो गई क्योंकि वे अनेक हैं जिनमें विलक्षणता बतायी जा रही है । अगर एक रूप से है विसदृशता उन पदार्थों में एकमेक तो विसदृशता अवयवान हो गया । विसदृशता ऐसी लम्बी-चौड़ी चीज है कि जिसका एकदेश पदार्थ में एकमेक हो रहा । तो विसदृशता को स्वलक्षण से भिन्न मानने से सिद्ध न हुआ और अभिन्न माने तो भी दोष है । भिन्न अभिन्न माने तो दोष है । जो भी दोष क्षणिकवादियों ने सदृशता के खण्डन के लिए कहे थे वे समस्त दोष विसदृशता में भी आते हैं । तो यों पदार्थों में वैलक्षण्य भी सिद्ध नहीं होता । जब वैलक्षण्य सिद्ध न हुआ तो अपने आप सदृशता सिद्ध हो गई । प्रत्यभिज्ञान का फिर कैसे खण्डन किया जा रहा है?

वस्तु के सामान्यविशेषात्मकत्व के निराकरण की अशक्यता—अब यह, शंकाकार कहता है कि बहुत कहने से क्या लाभ? हम न तो सदृशता को परमार्थ वस्तु मानते हैं और न विसदृशता को परमार्थ वस्तु मानते हैं, क्योंकि अर्थक्रिया जैसे सदृशता में नहीं वैसे ही विसदृशता में भी नहीं, किन्तु सदृश और विसदृश दोनों से रहित जो पदार्थ है, स्वलक्षण है, निरंश वस्तु है, वही अनेक क्रियाओं को करने में समर्थ है । तो इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि सदृशता और विसदृशता से पृथक् कुछ भी स्वलक्षण प्रमाणसिद्ध नहीं होता ।

जैसे कि आकाश की फूल सामान्य और विशेष दोनों से रहित है, क्योंकि कुछ है ही नहीं तो वह प्रमाणसिद्ध नहीं है, ऐसे ही सदृशता और विसदृशतारहित याने सामान्य और विशेष से रहित कोई पदार्थ नहीं होता । जितने भी पदार्थ हैं वे सब सामान्यविशेषात्मक ही होते हैं, क्योंकि जो है वह कभी नष्ट नहीं हो सकता और जब है तो प्रति समय उसमें अवस्थायें भी हुआ करती हैं, तो जो अवस्थायें हैं वह तो हैं विशेष और जो मूल वस्तु है वह है सामान्य । सामान्यविशेषात्मक ही सत् होता है । सामान्य का मतलब सादृश्य से बनता है विशेष का मतलब वैसादृश बनता है । इस तरह पदार्थ सादृश्य और वैसादृश्य से रहित कुछ नहीं हुआ करता है ।

ज्ञान द्वारा वैसादृश्य की भाँति सादृश्य का भी स्पष्ट प्रतिभास—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रतिभासमान जो पदार्थ है वह तो स्पष्ट पदार्थ है, स्वलक्षण है, फिर वैसादृश का, क्षणिक पदार्थ का कहाँ निराकरण किया जा सकता है? इसके उत्तर में समाधान यह है कि प्रत्यक्ष के ज्ञान में तो जैसे विशेष प्रतिभासित

होता है ऐसे ही सामान्य प्रतिभासित होता है। बल्कि हम सब लोगों को प्रत्यक्ष में सामान्य स्पष्ट प्रतिभासित हो रहा और सामान्य न हो याने अनेक क्षणों में वे पदार्थ न रहते हों तो उसका प्रतिभास भी नहीं हो सकता। तो वर्तमानकाल में जो पदार्थ विद्यमान हैं, उनमें पूर्वोत्तर समय में समान आकार है अथवा एक दूसरे में समाने आकार है, ऐसा स्पष्ट प्रत्यक्ष में आ रहा है। तो जिस प्रत्यक्ष से पदार्थों का भिन्न-भिन्न स्कंभाव दृष्टि में आता है कि यह इससे न्यारा है, यह इससे भिन्न है, ऐसा एक व्यावृत्ति बुद्धि से याने यह इससे अलग हटा हुआ है ऐसी बुद्धि से जैसे पदार्थों में विशेष प्रतिभासित होता है उसी प्रकार यह उसके समान है, यह द्रव्य है, ऐसा सादृश्य भी, सामान्य भी अन्वय बुद्धि के द्वारा स्पष्ट दिख रहा है। इस तरह सदृश और विसदृश धर्मस्वरूप पदार्थ है, स्वलक्षण है, यह सिद्ध हो गया। ऐसा न माना जाये तो वस्तु सिद्ध नहीं होता है और जब यह सामान्य सिद्ध हो गया, सादृश्य सिद्ध हो गया तो उसे आलम्बन कर जो प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसा सादृश्यप्रत्यभिज्ञान भी वास्तविक ज्ञान है और प्रमाणभूत है। इसमें किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आती।

प्रत्यभिज्ञान में बाधकाभाव बताने के प्रसंग में प्रत्यक्षज्ञान द्वारा सादृश्य की अबाधकता तथा साधकता—सादृश्यप्रत्यभिज्ञान का विषय पदार्थ का सामान्यस्वरूप है उसके विरोध में शंकाकार कहता कि पदार्थों का सामान्यस्वरूप जो प्रतिभास में आ रहा है वह तो भ्रान्त है अर्थात् सामान्यस्वरूप नहीं है। पदार्थ का तो विशेष ही स्वलक्षण स्वरूप है अर्थात् प्रत्येक पदार्थ का स्व-स्व जो-जो भी लक्षण है वह ही उसका स्वरूप है। तो अवस्तुभूत सामान्य का प्रतिभास होना भ्रान्त है, ऐसी आशंका पर यह उत्तर दिया जा रहा है कि यों तो अर्थात् सादृश्य को यदि भ्रान्ति वाला प्रतिभास मानो तो वैसादृश्य को भी ऐसा कह सकते याने एक दूसरे पदार्थ से सर्वथा भिन्न स्वरूप है उसका प्रतिभास हुआ करता है, यह भी भ्रान्त क्यों न हो जायेगा? पदार्थों में सादृश्य यदि भ्रान्त है तो वैसादृश्य भी भ्रान्त है। यदि इसका यों समाधान करे शङ्काकार कि वैसादृश्य जानने में बाधक प्रमाण नहीं आता इसलिए वह सही है तो ऐसा ही उत्तर यहाँ है कि सामान्य का स्पष्ट प्रतिभास होने में बाधक प्रमाण कोई नहीं है। अगर विशेषरूप से निर्णय करें तो देखिये, करिये—वस्तु में जो सामान्यस्वरूप का प्रतिभास होता है उसका बाधक क्या प्रत्यक्ष ज्ञान है? प्रत्यक्ष ज्ञान तो सादृश्य का बाधक नहीं है बल्कि साधक है। कोई पुरुष प्रत्यक्ष में पदार्थ को देखकर बहुत प्रयत्न करके ऐसा मन बनाये कि मैं स्वलक्षणों को देख रहा हूँ तो ऐसा मन बना रहने वाले पुरुष के भी स्थूल स्थिर सामान्य आकार वाले पदार्थ का स्पष्ट प्रतिभास हो रहा है और अर्थक्रिया भी उस ही सामान्य के स्पष्ट प्रतिभास के बल पर चलती है। प्रत्यक्ष द्वारा कोई कहे कि सर्वथा सूक्ष्म क्षणिक विसदृश पदार्थ दिख रहा है तो इस बात की पुष्टि करने वाला यहाँ कोई न मिलेगा, किन्तु स्थूल, दूसरे समय तक ठहरने वाले सदृश पदार्थ का लोगों को स्पष्ट प्रतिभास हो रहा है। तो जिस प्रत्यक्ष द्वारा विशेष प्रतिभास में आता है उससे भी अधिक स्पष्ट प्रतिभास होता है एक का, बहुत काल रहने वाले पदार्थ का, उस सादृश्य का। जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा उसमें कोई बाधक प्रमाण नहीं आता। अन्यथा सदृश पदार्थ की स्मृति कैसे बनेगी? जिसको स्मरण होता है उसको पहले जाते हुए का ही स्मरण होता है। तो सदृश पदार्थ जाना गया तब ही तो सदृश पदार्थ का स्मरण होता है। तो जिसको भी सादृश्य की स्मृति हो रही है समझ लो उसे अभी पहिले सादृश्य का प्रत्यक्ष हुआ था तो इस तरह सादृश्य धर्म है और उसका प्रत्यभिज्ञान करने वाला सादृश्यप्रत्यभिज्ञान प्रमाण है। उसमें प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधा नहीं आती।

अनुमान प्रमाण से भी सादृश्य की अबाध्यता—अब यदि कोई ऐसी जिज्ञासा रखे कि प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधा नहीं आती तो अनुमान प्रमाण से सादृश्य में बाधा आ जायेगी, सो भी सही नहीं है, क्योंकि सामान्य को स्पष्ट रूप से समझने में अनुमान बाधक प्रमाण नहीं जानता क्योंकि ऐसा अनुमान भी जो कि सामान्य का बाधक बने, उसको उत्पन्न करने वाला कोई हेतु नहीं है। शङ्काकार यदि यह कहे कि प्रत्येक पदार्थ जब अपने-अपने स्वभाव में स्थित हो रहे हैं तो यही हेतु पर्याप्त है कि जिससे यह सिद्ध हो जायेगा कि सम्पूर्ण पदार्थ परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, कोई किसी के सदृश नहीं है। तो प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वभाव में व्यवस्थित है। इससे सिद्ध हो जाता है कि सर्व पदार्थ विसदृश ही हैं। यह अनुमान सादृश्य ज्ञान का बाधक बन जायेगा। इसका समाधान तो बहुत ही सुगम हो रहा है कि जो अनुमान बनाया है शङ्काकार ने वह साध्य को सिद्ध नहीं करता, किन्तु शङ्काकार के इष्ट से विपरीत हो जाता है। शङ्काकार ने हेतु यह दिया कि प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वभाव में व्यवस्थित है। इस हेतु से तो यह सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण पदार्थ सदृश और विसदृश परिणामस्वरूप हैं। यदि पदार्थ सामान्यविशेषात्मक न हो तो वह अपने स्वभाव में व्यवस्थित नहीं रह सकता। तो सम्पूर्ण पदार्थ जो अपने-अपने स्वभाव में व्यवस्थित हैं ऐसा बोध हो रहा है, यह ही इस बात को सिद्ध करता है कि पदार्थ सामान्य विशेष परिणामस्वरूप है क्योंकि पदार्थ का स्वभाव ही सिद्ध न बनेगा यदि विशेष न मानेंगे। सो तो शंकाकार भी मानता है, मगर सामान्य न मानेंगे तो भी स्वभाव न बनेगा। और देखो आश्र्वय की बात, जिसका परिचय ही नहीं बन रहा उसकी तो शङ्काकार कल्पना कर रहा और जिस स्वभाव की प्रतीति चल रही उसका निराकरण कर रहा। तो ऐसे शङ्काकार यह बतायें कि जो यह हेतु प्रयुक्त किया है शङ्काकार ने कि चूंकि पदार्थ अपने-अपने स्वभाव में व्यवस्थित है, सो जो विसदृश अर्थ को सिद्ध करने के लिए किया ना तो यह बतलायें वे कि जिस प्रकार ठीक-ठीक दिखे रहा है सबको, शङ्काकार को भी अन्यवादियों को भी, क्या उस ही प्रकार हेतु स्वीकार है या अन्य प्रकार से शङ्काकार को हेतु स्वीकार है? यदि कहो कि जैसा ठीक-ठीक दिख रहा है वैसे। ही स्वीकार है तब तो उनका हेतु विरुद्ध हो जायेगा। क्योंकि जो कुछ दिख रहा है वह सदृश विसदृश परिणामात्मक ही दिख रहा है। बराबर यह भी ज्ञान होता कि यह पदार्थ इससे भिन्न है और यह भी ज्ञान होता कि यह पदार्थ इसके सदृश है और निरपेक्षतया भी प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है। जो मूल सत्त्व है वह सामान्य है, और जो अवस्था है वह उसकी पर्याय हैं। तो जिस प्रकार ठीक दिख रहा उसी प्रकार के स्वभाव में व्यवस्थित है, यह मानने पर तो कोई विवाद ही नहीं है और यदि ऐसा स्वीकार करें कि शंकाकार ने जैसा अपने मन में माना ऐसे स्वभाव में व्यवस्थित है और ऐसे को ही सत् कहते हैं तो यह बात स्वरूपसिद्ध है। प्रतीति के विरुद्ध अपने आपके घर में, मन में अटपट कुछ भी मान लिया जाये तो उससे पदार्थ की व्यवस्था तो नहीं बनती। जो हेतु स्वयं असिद्ध है वह साध्य को सिद्ध कैसे कर सकता है? इससे जैसा लोगों को, सबको प्रतीति हो रही है वैसा ही पदार्थ का स्वरूप मानना कहिए।

प्रतीतिसिद्ध सादृश्य के निराकरण के प्रयास की व्यर्थता—अब शंकाकार कहता है कि जिस तरह हमको दोष दिया जा रहा है उस प्रकार का दोष तो समस्त हेतुवों में लग जायेगा। अच्छा कोई यह बतलाये कि जो सारा जगत ही धूम को अग्नि सिद्ध करता है तो वह धूम हेतु क्या बना अग्निजन्य है? याने अग्नि से जन्य है यह धूम ऐसा सिद्ध करने के लिए जो हेतु दिया जा रहा है वह धूम क्या, अग्निजन्य मानते हों या अनग्निजन्य मानते हों?

अगर अग्निजन्य मानते हो तब तो हेतु विरुद्ध हो गया । वह धूम यदि अग्निजन्य है, ऐसा मानकर हेतु देते हो तो यह बात अभी तक पक्ष में सिद्ध थोड़े ही हुई, क्योंकि अग्नि को ही तो सिद्ध करने के लिए हेतु दिया गया है और कहो कि अग्निजन्य है तो वह बिल्कुल विरुद्ध पड़ जाता है कि धूम से तो फिर अग्नि का अभाव ही सिद्ध होगा । और यदि कोई कहे कि अग्निजन्य है या अनग्निजन्य है, इस विवाद को तो गौण करो । यह विवाद में पड़ा है, ऐसा ही मान लो और जो एकदम उसका प्रभाव पड़ रहा है कि कंठ रुध गया, नेत्रों में आंसू आ रहे, चारों ओर फैल रही, कुछ काला-काला रंग बन रहा, इन बातों से जो प्रसिद्ध है वह धूम यहाँ हेतु है, इतना ही मानना चाहिए । यदि ऐसा कोई कहे तो शङ्काकार कह रहे हैं कि हम भी यह कह देंगे कि हमारा जो सत्त्वादिक हेतु है वह विरुद्ध नहीं है । पदार्थों की विलक्षणता सिद्ध करने के लिए असिद्ध नहीं है, ऐसी शंकाकार अपनी भावना रख रहा है । उसके समाधान में सुनो । सत्त्वादिक हेतुवों के विवाद में यह सदृशता और विसदृशता विशेषण पड़ा है और कोई शंकाकाराभिमत प्रसिद्ध स्वभाव चल रहा है, ऐसा तो कुछ दिख नहीं रहा । जहाँ पदार्थ को सामान्यविशेषात्मक न माना जाये वहाँ कोई स्वभाव सिद्ध नहीं हो सकता । शंकाकार यदि कहे कि उसमें अर्थक्रिया का स्वभाव तो पड़ा है, सो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा सत्त्व जिसमें सदृशता नहीं और अर्थक्रिया करे वह तो प्रतीतिसिद्ध है । जो परमार्थ है वह कल्पित नहीं है और जो कल्पित है वह परमार्थ नहीं हो सकता और कल्पित पदार्थ हेतु नहीं बन सकता । तो जो परमार्थ है वस्तु सदा रहती है और उसकी अवस्थायें बदलती रहती हैं, ऐसा यथार्थ मानने में कौनसी पीड़ा है? प्रतीति का अपलाप करके अन्य-अन्य कुछ कल्पनायें करना यह तो बुद्धिमत्ता नहीं कहलाती । क्षणिकवादियों ने वस्तु का जो स्वरूप स्वलक्षण माना तो प्रत्येक पदार्थ का अपना ही निज का जो स्वरूप है, स्वलक्षण है और यह सबका परस्पर में भिन्न ही है, ऐसा जो कहते हैं सो भवान्तर सत्ता की दृष्टि से तो प्रत्येक पदार्थ भिन्न ही है, परस्पर एक दूसरे से । लेकिन जाति की दृष्टि से समानता आती है और उस सदृशता का आबालवृद्ध परिचय चल रहा है । उस सदृशता का परिचय अनेक ढंग से होता है । कोई चीज कभी देखी भी न थी और केवल पुस्तकों में उसका वर्णन सुनते आये और कदाचित् आंखों दिख जाये तो इट प्रत्यभिज्ञान हो जाता कि जो वर्णन पुस्तकों में है वही चीज देखो सामने आ गई । तो सादृश्य तो सबको अत्यन्त प्रसिद्ध हो रहा है । उसमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है ।

पदार्थों के एकत्व और सादृश्य की एवं प्रत्यभिज्ञान के प्रमाणत्व की संसिद्धि—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि जो कुछ ऐसा प्रतिभास हो रहा है कि पदार्थ वही का वही है, एक है और यह उसके समान है, ऐसा एकत्व और सादृश्य का प्रतिभास करने वाली जो प्रतीति है वह तो अज्ञानवश हो रही है । ऐसा कहने वाला शङ्काकार एकदम अपने अज्ञान को प्रकट कर रहा है, यह अज्ञान दूसरों का नहीं है । सारा लोक एक और सदृश का बोध कर रहा है । पर शङ्काकार को ही अविद्या का उदय है इस कारण से जो यथार्थ है, प्रतीतिसिद्ध है उसका अपलाप किया जा रहा है । पदार्थ में एकत्व और सादृश्य है, इसका ज्ञान भी होता है वह बाधारहित है, क्योंकि पदार्थ सहभावी विशेषों में भी है और क्रमभावी विशेषों में भी व्यापी है, याने पदार्थ के जो गुण हैं, जो शक्तियाँ हैं, जो एक साथ रहती हैं उनमें भी व्यापक है । भेददृष्टि में गुण जो जाने गए उनमें व्यापक है और क्रम से होने वाली जो अवस्थायें हैं उन अवस्थाओं में व्यापक है । ऐसा एक द्रव्य एक रूप के भले प्रकार प्रतीत हो रहा है और इसी प्रकार सादृश्य भी पर्यायसामान्य में प्रतिभासित हो रहा है । जो-जो पर्यायें, अवस्थायें एक समान

दृष्टि में आती हैं उनमें समानता का भी ज्ञान हो रहा है और समानता का इतना स्पष्ट प्रतिभास होता है कि जिससे एकत्र का विचार भी बनने लगता है। तो एकत्र विषय है, सादृश्य विषय है और उनको जानने वाला जो ज्ञान है, प्रत्यभिज्ञान है वह प्रमाण है। इस प्रकार ‘मतिः स्मृतिः संज्ञाचिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्’ इस सूत्र में जो मतिज्ञान के जातीय ज्ञान बताये गए हैं उनमें मति याने सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मृति अर्थात् स्मरणज्ञान और संज्ञा अर्थात् प्रत्यभिज्ञान—इन तीन मतिज्ञान के प्रकारों का वर्णन किया गया है।

तर्कज्ञान की प्रमाणता की प्रसिद्धि—अब तर्क ज्ञान की प्रमाणता के सम्बन्ध में वर्णन करते हैं। जिस ज्ञान के द्वारा पदार्थ के सम्बन्ध का समस्त देश, काल का उपसंहार करने वाली व्याप्ति के स्वरूप से खूब निश्चय करके अनुमान करने वाला जीव प्रवृत्ति करता है उसे तर्क ज्ञान कहते हैं, अर्थात् तर्क ज्ञान में साध्य-साधन के सम्बन्ध की व्याप्ति ज्ञान में रहती है। अमुक चौज न हो तो अमुक चौज नहीं होती, अमुक के होनेपर अमुक होता है, इस प्रकार का सर्व देश कालों में दृष्टि दोड़ाकर जो सम्बन्ध निश्चित किया जाता है उसका नाम तर्क ज्ञान है सो यह तर्कज्ञान प्रमाण है, क्योंकि उसमें सम्वाद है और उससे अनुमान की प्रवृत्ति बनती है। कोई पूछे कि यह सम्बन्ध क्या वास्तविक है? तो उसका उत्तर है कि हाँ वास्तविक है। क्यों वास्तविक है कि उसमें सम्वाद पाया जाता है। सम्वाद से ही तो ज्ञानों की प्रमाणता ज्ञात की जाती है। तो सम्बन्ध के जानने में संवाद बराबर है, इसलिए तर्क ज्ञान प्रमाण है। वह सम्बन्ध कल्पित नहीं है किन्तु वह वास्तविक है, क्योंकि वह संबन्ध अर्थकारी है। उस संबन्ध में यथार्थता का प्रकाश करने वाली बुद्धि उपयोग कर रही है। अनेक पदार्थ भिन्न-भिन्न जुड़े हैं। उन भिन्न-भिन्न पदार्थों को निरखने में वैसा ही प्रतिभास चल रहा है और जब उनका संबंध सोचते हैं, युक्तियाँ आती हैं, अमुक-अमुक का संबन्ध होने पर अमुक प्रभाव होता है, इसका अविनाभाव सम्बन्ध है आदिक अनेक रहस्य विदित होते हैं तो सम्बन्ध एक सम्बादी ज्ञान है, उससे एक यथार्थता का निश्चय होता है। तो व्याप्तिज्ञान अर्थात् तर्कज्ञान अपने इष्ट का ज्ञान करता है। पदार्थ का प्रतिभास करने से यह प्रमाण है।

सम्बन्ध का अर्थक्रियाकृत्व—अब कोई यहाँ जानना चाहे कि सम्बंध की अर्थक्रिया क्या कहलाती है तो विचार करें—अर्थक्रिया तो वास्तविक मूल में यही होती कि उसका प्रकाश चलता है, ज्ञान चलता है, जानकारी होती है। सम्बन्ध के आधीन होकर रहने वाली जो पदार्थ की सम्बंधिता है अर्थात् अमुक-अमुक पदार्थ सम्बन्धित है, इस प्रकार का जो सम्बंध है, बस ऐसा सम्बन्धन हो जाना, बंध जाना, उसका निमित्त प्रभाव होना यह ही तो सम्बंध की अर्थक्रिया है और सम्बंध का ज्ञान कर दिया यह सम्बन्ध की अर्थक्रिया है। सम्बन्ध होने के प्रभाव विचित्र होते ही है। जैसे कुछ औषधियों को मिला दिया जाये तो वहाँ विशिष्ट रोग दूर हो जाता है, वह बात केवल एक भिन्न-भिन्न औषधियों से नहीं बनती। तो सम्बंध यदि न हो या सम्बंध को मात्र कल्पित माना जाये तो यह प्रभाव जो विचित्र होता है, जिससे लोग लाभ-हानि उठाते हैं, वह कैसे बने? तो सम्बंध के अन्वयव्यतिरेक का विधान करने वाला जो सम्बंधीयन है उसका बराबर ज्ञान होता रहता है, बस यह मौलिक अर्थक्रिया है जो यह विषय बन रहा है। सम्बंध का रहस्य जानने में आना, यह सम्बंध की अर्थक्रिया है। जैसे नीले रंग से वस्त्र रंग दिया अब उस वस्त्र में नील के साथ एक सम्बंध बन गया तो अब उस सारे वस्त्र में तो नीलपना फैला है या नील का जो भी वस्त्र के साथ फैलाव बन रहा है वही तो नील रंग की अर्थक्रिया है, क्योंकि करहा नील है, इसकी सिद्धि उस नील रंग से ही तो बनती है, और कपड़ा नीला है, ऐसा ज्ञान हो गया इसमें ही तो नील

के सम्बंध की अर्थक्रिया प्रतिभात होती है। तो जिस सम्बंध से बड़े-बड़े हल निकाले जाते, जिस सम्बंध के ज्ञान से बड़ा उपयोगी अनुमान बनता है उसे क्या अर्थक्रिया न कहेंगे?

सम्बन्ध की सिद्धि—यहाँ शंकाकार कहता है कि सम्बन्धपना कुछ भी वास्तविक नहीं है, किन्तु विशिष्ट अर्थ है पाते निकट पहुंचे हुए, चिपटे हुए, ऐसी विशेष परिस्थिति में बने हुए जो पदार्थ हैं बस वे तो वास्तविक हैं, उनको छोड़कर सम्बंध नाम का कुछ और सत्त्व नहीं है। इस आशंका का समाधान तो स्वयं ही शंका में बना हुआ है। वह पदार्थों की जो विशिष्टता है याने निकट पहुंचे हुए, चिपटे हुए आदिक जो पदार्थ की परिस्थिति है वह ही तो सम्बंध है। सम्बन्ध के अभाव में पदार्थों की ऐसी परिस्थिति विशिष्टता कैसे बन जाएगी? अगर कहो कि अपने कारण से ही वह विशिष्टता बन जाती है पदार्थों में तो बस उसके नाम ही की भेद रहा। चाहे विशिष्टता कह, लो, चाहे सम्बंधिता कह लो, निकट पहुंचे हुए पदार्थों की विशिष्टता ही तो सम्बंधिता है। वह निकट है, यहीं तो सम्बंध कहलाता है। तो मिले हुए पदार्थों में सम्बन्धीपना है, इसकी सिद्धि प्रमाण से है, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं। अग्रि पर कोई चीज पड़ जाये तो वह जल जाती है। क्या हो गया? वह सम्बन्ध का ही तो प्रभाव है। भोजन आदिक बनाये जाते हैं तो यह सब सम्बन्ध का ही तो प्रभाव है। अगर ऐसे सम्बन्ध को केवल कल्पनामात्र ही माना जाये कि लोगों के चित्त में ऐसी वासना बस गई, अज्ञान है कि वे संबन्ध समझ लेते हैं। तो जो वास्तविक ज्ञान हो रहा उसको अगर वासना हेतुक कह दिया जाये तो सारे ज्ञानों को यों कहा जा सकता कि सभी वासना और भ्रम से ज्ञान हो रहे हैं। फिर तो वास्तव में कोई भी पदार्थ अर्थक्रियाकारी न रहेगा और न वस्तु की व्यवस्था बन सकेगी। फिर तो यदि कोई ऐसा कहने वाला भूखा हो, प्यासा हो या रोगी हो जाये, सिर में पीड़ा हो जाये तो उसको यहीं कहना चाहिए कि यह तो वासना से ज्ञान हो रहा, है कुछ नहीं। तुझे पीड़ा नहीं है, भूख नहीं है, यों तो सारे व्यवहार का लोप हो जायेगा। तो सम्बन्ध वास्तविक चीज है और उसकी अर्थक्रिया होती है। उस सम्बन्ध के ज्ञान में बराबर सम्वाद है इसलिए सम्बन्ध ज्ञान प्रमाण है और उससे ही तो जब एक सामान्य रूप से व्याप्ति बनाकर जाना जाता है तो उसी का नाम तर्कज्ञान है। शङ्काकार ऐसा मानना चाहता है कि वास्तविक पदार्थ वह है जो आत्मा के संतोष का कारण बने। तो शङ्काकार यह बताये कि स्वप्न में जो पदार्थ देखो जाता है उससे भी तो कुछ काल तक संतोष रहता है, तो क्या वह भी वास्तविक हो गया? कभी स्वप्न में धन-वैभव देखते हैं तो बड़ा संतोष होता है। यदि इसका उत्तर यह दिया जाये कि स्वप्न में सभी को तो संतोष नहीं होता, तो लो, ऐसा उत्तर देने वालों ने स्वीकार कर लिया कि जागृत दशा में जो ज्ञान हो रहा है उसमें सच्चाई का निर्णय होता है तो? फिर यह सम्बंध का ज्ञान, यह जागृत दशा में ही तो किया जा रहा है कोई स्वप्न में तो नहीं किया जा रहा है। वह तो प्रमाणभूत है, उसमें बाधक प्रमाण नहीं है।

तर्कज्ञान की अबाध्यता—जो संबंध को नहीं? मानते, ऐसे शंकाकार यदि यह कहें अपने ही घर में रहकर कि संबंध की अर्थक्रिया में बाधक ज्ञान बन रहा है तो ऐसा तो अन्य दार्शनिक भी कह सकते हैं कि शून्य ही तत्त्व है और उसके अतिरिक्त कोई कुछ माने तो उसमें बाधक ज्ञान है, या अद्वैत ब्रह्म ही तत्त्व है। उसमें इन शून्यवादी व ब्रह्मवादी के विरुद्ध कोई कुछ कहे तो उसमें बधिक ज्ञान है, यों कह दिया जावेगा तो कहने मात्र से तो बाधकता नहीं हो जाती। जिस किसी को भी कह दें कि “अज्ञान में कह दिया” तो ऐसा कहने से कहीं

अज्ञान तो सिद्ध नहीं हो जाता? यों तो ऐसा कहने वालों के ही अज्ञान है। तो तर्कज्ञान का विषय हैं संबन्ध। उसका ज्ञान निर्वाध हो रहा। लोग तर्कज्ञान से सम्बन्ध का निर्णय कर अनुमान की प्रवृत्ति करते हैं, इस कारण तर्कज्ञान प्रमाण है, इसमें संदेह की गुञ्जाइश नहीं है।

तर्कज्ञान के बल से उत्पन्न हुए अनुमानज्ञान की प्रमाणता होने से तर्कज्ञान में प्रमाणत्व की सिद्धि—तर्कज्ञान प्रमाण है क्योंकि तर्कज्ञान के कारण से उत्पन्न हुआ अनुमानज्ञान प्रमाण है। अनुमान ज्ञान प्रमाण है इससे सिद्ध है कि उसका कारणभूत ज्ञान तर्क भी प्रमाण है। कारणभूत ज्ञान के प्रमाण होने पर ही कार्यभूतज्ञान प्रमाण होता है, तो तर्कपूर्वक होने वाला अनुमान संवादी है, इससे सिद्ध है कि तर्कज्ञान भी संवादी है। यदि तर्कज्ञान में विसंवाद होता अर्थात् तर्कज्ञान अप्रमाण होता तो अनुमानज्ञान कभी भी प्रमाण न हो सकता था। यह एक इतना प्रबल प्रमाण है कि जिसके कारण तर्क की प्रमाणता में संदेह नहीं रहता। कोई कहे कि तर्कज्ञान में संवाद नहीं है, क्योंकि तर्कज्ञान अत्यन्त भूत के, अत्यन्त दूर के पदार्थों को विषय करता है। तो यह शंका करना ठीक नहीं है। तर्कज्ञान का विषय ही बहुत महान है। जिन-जिनका संबन्ध व्याप्ति बनती है उन उनके-बारे में किसी भी जगह, किसी भी काल में व्यभिचार न आ सके, ऐसी तर्कणा करके ही इस तर्क की उत्पत्ति होती है। तर्क के संवाद में संदेह करनेपर अनुमान प्रमाण को निःशंक कभी न कहा जा सकेगा और अनुमान प्रमाण जब न रहा तो अनुमान भी अप्रमाण हो जायेगा। याने तर्क को अप्रमाण मानने पर अनुमान अप्रमाण होता है और अनुमान ने अप्रमाण होने पर प्रत्यक्ष अप्रमाण होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष की प्रमाणता की सिद्धि अनुमान प्रमाण से बनती है। अब अनुमान प्रमाण तो सारे झूठे कहे जा रहे हैं तो प्रत्यक्ष की भी सिद्धि न होगी, इस कारण प्रमाण चाहने वाले पुरुषों को अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान ये प्रमाण बने रहें, ऐसी भावना रखने वाले पुरुषों को तर्कज्ञान को भी प्रमाण मानना चाहिए। सभी वादियों को अपने इष्ट की सिद्धि करना तो कर्तव्य ही है। जो लोग प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण मानते हैं उनको इन दो प्रमाणों की रक्षा के लिए तर्क प्रमाण मानना ही पड़ेगा। अत्यन्त प्रमाण मानने वालों को जैसे अनुमान प्रमाण मानना ही पड़ता है इसी प्रकार अनुमान प्रमाण मानने वालों को तर्क प्रमाण मानना ही पड़ेगा, क्योंकि व्याप्ति का ज्ञान हुए बिना अनुमान प्रमाण की उत्पत्ति नहीं होती।

तर्कज्ञान की अपूर्वार्थविषयता—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि तर्कज्ञान तो अप्रमाण है क्योंकि वह गृहीत पदार्थों को ही ग्रहण करता है। जैसे तर्क प्रमाण से जाना कि जहाँ-जहाँ धुवाँ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धुवाँ नहीं होता तो इसने अग्नि और धूम के सत्त्व और असत्त्व को ही तो जाना और यह पहले प्रत्यक्ष प्रमाण से जान लिया गया था। तो जो पहले प्रमाण से ग्रहण कार लिया गया उस ही को ग्रहण किया तर्क ने, इस कारण तर्क अप्रमाण है, ऐसी शङ्का होने पर यह समाधान समझना चाहिए कि तर्कज्ञान प्रमाण ही है, क्योंकि वह अपूर्व अर्थ का जाननहार है। जो अपूर्व अर्थ का जाननहार है सो प्रमाण है, ऐसा सभी स्वीकार कर रहे हैं। तो तर्कज्ञान भी अपूर्व अर्थ को जानता है। कैसे हुआ वह अपूर्व अर्थ? जो पहले प्रत्यक्ष के द्वारा सद्वाव और असद्वाव के रूप में जाना गया था वही तर्कज्ञान में अपूर्व अर्थ बन जाता है। कैसे? जो पहले प्रत्यक्षज्ञान ने सद्वाव और असद्वाव को जाना था वह नहीं जाना गया था जैसा तर्कज्ञान में

जाना गया, किन्तु तर्कज्ञान में उपयोग विशेष बनना और उन दोनों का सम्बंध और तर्कणा विषय रहा, इस कारण तर्कज्ञान अपूर्व अर्थ का जाननहार है और प्रमाणभूत है। प्रत्यक्ष प्रमाण ने तो एकदेश बात जाना था। अग्नि थी तो अग्नि जान ली थी, धुवां था तो धूम जान लिया था और अनुपलभ्म का भी याने अग्नि न मिली, न धुवां मिला, इतना हीं जाना था, पर तर्कज्ञान ने इन दोनों के सम्बन्ध के बारे में समझा जो कि उन दोनों के ज्ञान से अधिक है, अपूर्व अर्थ है। प्रत्यक्षज्ञान से या अनुपलभ्म ज्ञान से साध्यसाधन के सम्बन्ध का ज्ञान नहीं हो रहा था, किन्तु अब उसके सम्बंध का जानना हो रहा है तो इस प्रकार को विशेष उपयोग तर्क में चल रहा है। पहले तो एकदेश ही सम्बन्ध समझा था, थे भी दोनों एक साथ, तो बस उस ही जगह का, उस ही समय का सम्बंध भी जाना गया था, लेकिन अब सम्पूर्ण रूप से सब कालों में, सब देशों में व्यासि के रूप से जाना जा रहा है तो ऐसे सम्बन्ध को जानने में तर्क का विशेष उपयोग है। तो अन्य प्रमाण से यह सम्बंध ग्रहण नहीं किया गया। जैसे कि तर्कज्ञान जान रहा है तो कथश्चित् गृहीत अर्थ का ग्रहण करने वाला है तर्कज्ञान, फिर भी उस ग्रहण किए हुए अर्थ के विषयों में किसी अपूर्व बात का ही ज्ञान किया जा रहा है, इसलिए तर्कज्ञान प्रमाणरूप है। गृहीत का ग्रहण हुआ, इससे अप्रमाण नहीं होता, किन्तु गृहीत का उतने ही अंशों में उस ही रूप से ग्रहण हो तो इसलिए धारावाही ज्ञान कहलाता है और अप्रमाणभूत। यों तो रोज ही रोज-रोज के जाने गए पदार्थ ही जाने जाते हैं और जानकर उनमें प्रवृत्ति की जाती हैं तो क्या रोज-रोज जो जाने जा रहे हैं परिचित हुए पदार्थ तो क्या वह ज्ञान अप्रमाण हो जाता है? जहाँ उपयोग विशेष बनता है वह ज्ञान गृहीत अर्थ को जानकर भी प्रमाणभूत होता है।

तर्कज्ञान की अपूर्वार्थग्राहिता व प्रमाणता का पुनः सयुक्तिक वर्णन—इस प्रसंग में तर्कज्ञान की प्रमाणता और विधि के विषय में यह भी समझना चाहिए कि जैसे हेतु के ज्ञान के बिना साध्य का ज्ञान नहीं होता तो साध्य का ज्ञान हेतु के ज्ञान के आधीन बन गया है, किन्तु साध्यज्ञान द्वारा हेतु का ज्ञान न जाना जायेगा। जैसे धूम का ज्ञान होने पर अग्नि का ज्ञान बन गया तो अग्नि के ज्ञान होने में धूमज्ञान कारण है, पर इसके मायने यह न हो जायेंगे कि अग्निज्ञान का विषय धूमज्ञान बन जाये। हेतु दो प्रकार के होते हैं, ज्ञायकहेतु और कारकहेतु। ज्ञायकहेतु तो कहलाता है तत्त्व को जना देने वाला हेतु और कारकहेतु कहलाता है उत्पत्ति का निमित्तभूत। साध्य का ज्ञान कराने में अनुमान ज्ञान स्वतंत्र है और उस अनुमान की उत्पत्ति हेतुज्ञान के आधीन है। तो इससे कहीं यह न हो जायेगा कि अनुमान का विषय हेतुज्ञान बन जाये। जैसे यहाँ यह बात है वैसे ही यहाँ समझिये कि तर्कज्ञान प्रत्यक्ष और अनुपलभ्म द्वारा उत्पन्न हुआ। किसी सम्बन्ध का। बारबार देखना अभ्यास आदिक कारणों से हुआ तो अब तर्कज्ञान में यह हेतु बन रहे, पर इसके मायने यह न होंगे कि ये तर्कज्ञान के विषय बन जायें, या इनका विषय तर्कज्ञान बन जाये। प्रत्यक्ष तो तर्कज्ञान का उत्पादक कारण है, स्मृति भी तर्कज्ञान का उत्पादक कारण है, पर प्रत्यक्ष और स्मृति तर्कज्ञान के विषय नहीं बन सकते। तर्कज्ञान तो प्रत्यक्ष और स्मृति से विलक्षण सम्बन्ध व्यासि का ज्ञान किया करता है, अतः तर्कज्ञान अपूर्व अर्थ का ग्रहण करने वाला है और प्रमाणरूप है। यह नियम नहीं है कि जो-जो जिसका आत्मस्वरूप का कारण बने याने उत्पत्ति का कारण बने वह-वह उसका विषयभूत बन जाये। जैसे हेतुज्ञान से साध्य का ज्ञान होता है तो कहीं साध्यज्ञान का विषय हेतुज्ञान नहीं बन जाता। अथवा चक्षुइन्द्रिय से रूपज्ञान होता है तो इसके मायने यह नहीं हैं कि

उस प्रत्यक्षज्ञान का विषय नेत्र बन जाये। आँख से देखा गया, पर देखने में आँख नहीं आती इससे तर्कज्ञान अन्य समस्त ज्ञानों की भाँति अपूर्व अर्थ को ही ग्रहण करता है। यहाँ यह भी शंका न रखनी चाहिए कि विषय तो वह कारण कहलाता है जो अपने आकार का समर्पण करने में समर्थ होता। जैसे चाक्षुष प्रत्यक्षज्ञान आँख से भी हुआ, पदार्थ से भी हुआ, लेकिन पदार्थ तो अपना आकार सौंप देता है ज्ञान को, चक्षु नहीं सौंपती, इस कारण जो अपना आकार सौंप सके वह कारण विषय होता है। इस कारण यहाँ यह दोष नहीं दे सकते कि चक्षुइन्द्रिय से प्रत्यक्षज्ञान होता है तो वह चक्षु को जान ले। समाधान में कहते हैं कि ऐसा ही यहाँ भी समझ लेना चाहिए कि प्रत्यक्ष से, स्मृति से तर्कज्ञान उत्पन्न हुआ, प्रत्यक्ष ने और स्मृति ने अपना आकार तर्क को नहीं सौंपा, इस कारण प्रत्यक्ष और स्मृति तर्क के विषयभूत नहीं हो सकते। अतः गृहीत को जाना तो तर्कज्ञान ने पर गृहीत में इस अपूर्व अर्थ को ही जाना, इस कारण तर्कज्ञान प्रमाणरूप ही है प्रत्यक्ष और अनुमान की तरह।

समारोपव्यवच्छेदक होते से तर्कज्ञान की पुष्टि—सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष याने मति, स्मृति और प्रत्यभिज्ञान—इन तीन मतिज्ञानों के अन्तर्भवी प्रमाण के वर्णन के पश्चात् यह तर्क प्रमाण का वर्णन चल रहा है। तर्कज्ञान प्रमाणभूत है। क्योंकि वह समारोप का निराकरण करता है। समारोप का अर्थ है संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय ये तीन ज्ञानों के दोष। जहाँ अनेक कोटि को छूता हुआ विचार चलता है वह संशय है। जैसे यह सीप है या चांदी, विपर्यय हो तो कुछ जान रहे विपरीत वह विपर्यय ज्ञान है। जैसे पड़ी तो थो सीप और जान गए चांदी। अनध्यवसाय पदार्थ का जरा प्रतिभास हुआ उसके बाद फिर उसका कुछ निर्णय ही न हुआ और आकांक्षा ही नहीं रहती और कुछ सा कुछ इतने मात्र ही प्रतिभास होकर रह गया वह है अनध्यवसाय। तो इन तीन दोषों का निराकरण करने से तर्कज्ञान में प्रमाणता आती है। वह अपने विषय में परिपक्व ज्ञान है जैसे कि अनुमान ज्ञान। अनुमान ज्ञान समारोप का निराकरण करता है अतएव प्रमाण है। तर्कज्ञान की प्रमाणता के सम्बन्ध में एक यह भी तथ्य है कि जब कभी साध्य और साधन के विषय में समारोप प्रकट हो जाये, संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय जाग जाये तब उस सम्बन्ध में तर्क प्रमाण के द्वारा निर्णय करने से प्रमाता पुरुष का समारोप दूर हो जाता है। तो यह तर्कज्ञान साध्य-साधन के सम्बन्ध का यथार्थ निर्णय बनाता है। साध्यसाधन के सम्बन्ध में कदाचित् समारोप लगे, संशय आदिक हों तो तर्कज्ञान से ही उनका निराकरण हुआ करता है। इस कारण तर्कज्ञान पुष्ट प्रमाण है। तर्कज्ञान के प्रमाण में अनेक युक्तियां कही गई हैं। निष्कर्ष यह समझना कि तर्कज्ञान सम्पादक है, अपूर्व अर्थ का ग्रहण करने वाला है, संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय का निराकरण करने वाला है और वह प्रत्यक्ष और स्मृति का कारण पाकर उत्पन्न हुआ है। तो मतिज्ञान के प्रकारों में इस प्रकर का जो तर्कज्ञान है वह निश्चित प्रमाण सिद्ध है।

तर्कज्ञान की प्रमाणता के चार हेतुओं का निर्देशन—तर्कज्ञान प्रमाण है, सम्पादक होने से, प्रसिद्ध अर्थ का साधन करने वाला होने से, समारोप का व्यवच्छेदक होने से, और प्रमाणभूत मतिज्ञान को धारण करके उत्पन्न होने से। यहाँ चार अनुमान बताये गए हैं। उनके चार हेतुओं में प्रथम हेतु का अर्थ यह है कि तर्कज्ञान सम्पादक हैं, क्योंकि तर्कज्ञान के विषय कोई बाधक प्रमाण नहीं है, और उससे प्रवृत्ति, अर्थक्रिया, प्रयोजन सब सिद्ध होते

देखे जाते हैं। दूसरा हेतु अप्रसिद्ध अर्थ का साधक है, इससे यह स्पष्ट हुआ कि तर्कज्ञान अपूर्व अर्थ का ग्राहक है, गृहीतग्राही नहीं है। यद्यपि अन्य प्रमाणों के द्वारा गृहीत विषय को कारण बनाकर तर्कज्ञान होता है, मगर तर्कज्ञान उपयोग विशेष है और वह अपूर्व अर्थ को ग्रहण करने वाला है, जिसको अन्य ज्ञान नहीं विषय करते। तृतीय हेतु है तर्कज्ञान संशय विपर्यय और अनध्यवसाय का निराकरण करता है, क्योंकि तर्क है एक सर्वोत्कृष्ट युक्तियों का समुदाय। वहाँ संशय आदिक दोष नहीं रह पाते। अब चौथे हेतु पर विचार करते हैं। तर्कज्ञान प्रमाणभूत है, मतिज्ञान का कारण पाकर हुआ है। यहाँ मतिज्ञान स्वयं तर्कज्ञान है अर्थात् तर्क प्रमाण मतिज्ञान का भेद कहा गया। मति, श्रुत आदिक ५ ज्ञानों में से मतिज्ञान के जो भेद इस सूत्र में कहे जा रहे हैं, इनमें जो मति है वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। तो तर्कज्ञान की उत्पत्ति होने में कारण है सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मृति, संज्ञा आदिक ये सब प्रमाण हैं, और इन प्रमाणभूत मतिज्ञानों के कारण से तर्क नामक मतिज्ञान हुआ है। तो जो प्रामाणिक कारण से हुआ है वह ज्ञान (कार्य) प्रमाण ही हो सकता है।

यहाँ यह शंका न करनी चाहिए कि तर्कज्ञान तो स्वयं मतिज्ञान है। उसे मतिज्ञान के कारण से उत्पन्न हुआ कहने का क्या अर्थ? तो मतिज्ञान के अनेक भेद होते हैं, उनमें से किन्हीं भेदों के कारण से कोई ज्ञान बन जाता है। जैसे मतिज्ञान का प्रकार स्मरणज्ञान है जैसा कि सूत्र में बताया ही गया है, वह स्मरणज्ञान मतिज्ञान की धारणा नामक स्मरणज्ञान उत्पन्न होता है तो इसी तरह से तर्क नाम का मतिज्ञान भी मति स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, उपलभ्म और अनुपलभ्म आदिक जो मतिज्ञान के प्रकार हैं उनके द्वारा उत्पन्न होता है। तो जो प्रमाणपूर्वक प्रमाण बनता है वह प्रमाण कहलाता है। तो यह तर्कज्ञान मति स्मृति प्रत्यभिज्ञानपूर्वक हुआ है, इस कारण प्रमाणभूत है। अब यहाँ शंकाकार कोई कहता है कि जो मतिज्ञानपूर्वक हो सो प्रमाण ही हो, ऐसा कोई नियम तो नहीं है। जैसे आगम श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक बताया गया है, लेकिन श्रुत आगम कोई प्रमाण नहीं है। इसके समाधान में इतना ही समझना पर्याप्त है कि कौन कहता कि आगम प्रमाण नहीं है? श्रुतज्ञान प्रमाण है। तो जो मतिज्ञानपूर्वक हुआ वह प्रमाण है, तर्कज्ञान मति स्मरण प्रत्यभिज्ञानपूर्वक हुआ है, अतएव वह प्रमाण है।

तर्कज्ञान की प्रमाणता के विषय में शंका समाधान—अब यहाँ क्षणिकवादी शंका करते हैं कि जैसे हेतुज्ञान से साध्य का ज्ञान होता है, अनुमान प्रमाण बनता है तो अनुमान प्रमाण की सिद्धि जो हेतुज्ञान से हुई उन दोनों के सम्बंध की सिद्धि जैसे तर्क द्वारा की जा रही है तथा तर्कज्ञान का जो विषय है, उसके साथ तर्कज्ञान के सम्बंध को उपलभ्म अनुपलभ्म बता देते हैं तब तर्कज्ञान को जानने की जरूरत क्या है? अथवा यह बतायें कि तर्कज्ञान ने जो भी जाना उस विषय का ज्ञान क्या, किसी अन्य प्रमाण से हो सकता है? तर्कज्ञान अविनाभाव सम्बन्ध को जानता है तो उसकी ज्ञानी प्रत्यक्ष से तो होती नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान, पूर्व की बात को नहीं जानता। प्रत्यक्ष तो निर्विकल्प है, वह विचार नहीं करता, और तर्कज्ञान से जाने गए पदार्थ का जो तर्कज्ञान से सम्बन्ध है उसे अनुमान भी नहीं जानता। अगर किसी दूसरे तर्क से जान ले तो अनवस्था हो जायेगी। फिर दूसरे तर्क का सम्बंध भी तीसरे तर्क से जानना होगा। और सम्बंध जाने बिना तर्कज्ञान की कीमत क्या है? ऐसे अनेक दोष आते हैं। फिर तर्कज्ञान को प्रमाण क्यों माना जा रहा है? उत्तर अति संक्षिप्त है। तर्कज्ञान के विषय का जो सम्बन्ध है उसे तर्कज्ञान स्वयं ज्ञान लेता है। ऐसी योग्यता प्रत्येक प्रमाण में है कि हर एक ज्ञान अपने विषय को स्वयं ज्ञानता है। तर्कज्ञान के विषय को तर्क स्वयं ज्ञानता है और अन्य कोई ज्ञानता नहीं। प्रत्यक्ष

का विषय वर्तमान है, वह तर्क के विषय को नहीं जानता है और न प्रत्यभिज्ञान एकत्र और सादृश्य को जानता, पर जहाँ साधन है वहाँ साध्य होता है, इस सम्बन्ध को तर्कज्ञान ही जाना करता है। इस कारण तर्कज्ञान प्रमाण है। कोई भी ज्ञान अपने सम्बंध को जानने के लिए परमुखापेक्ष नहीं होता, हाँ उत्पत्ति अवश्य किसी प्रमाण की पर से हुआ करती है।

प्रत्यक्षज्ञान की तरह तर्कज्ञान की स्वतंत्र प्रमाणता—तर्कज्ञान स्वतंत्र प्रमाण है प्रत्यक्ष की तरह। और जैसे प्रत्यक्ष अपनी योग्यता के बल से, अपना और अपूर्व अर्थ का प्रकाश करने वाला है इसी प्रकार तर्कज्ञान भी योग्यता के बल से अपना और अपूर्व अर्थ का प्रकाश करने वाला है। प्रत्यक्ष जिस विषय को जानता है उस विषय को निरपेक्ष होकर जानता है याने अपने विषय का सम्बंध है प्रत्यक्ष के साथ, इसके प्रमाण के लिए अन्य ज्ञान के ढूँढने की आवश्यकता नहीं होती। यदि प्रत्यक्ष के विषय का प्रत्यक्ष के साथ सम्बंध बनाने से लिए अन्य ज्ञान की अपेक्षा बने तो अनवस्था दोष हो जायेगा। यहीं बात तर्कज्ञान में है। तर्कज्ञान का जो विषय है उसके साथ तर्क का सम्बंध बनाने के लिए अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती, अन्यथा यहाँ पर भी अनवस्था दोष हो जायेगा। तर्कज्ञान को प्रत्यक्ष की तरह अपने विषय सम्बंध के ग्रहण में निरपेक्ष कहा है। अब जरा प्रत्यक्ष की यह विशेषता देखिये। इतना तो निश्चित है कि प्रत्यक्ष का अपने विषय के साथ सम्बन्ध है, उसे ग्राह्य-ग्राहक भाव कह लीजिए यान प्रत्यक्ष तो ग्रहण करने वाला है और यह विषय ग्राह्य है या विषयविषयी भाव सम्बन्ध कह लीजिए अर्थात् प्रत्यक्ष तो विषयी है याने उस विषय का जाननहार है और वह पदार्थ विषय है या तदुत्पत्ति तदाकार जैसा सम्बंध कह लीजिए। कुछ भी सम्बन्ध हो, सम्बन्ध तो मानना ही पड़ता है।

अब यह बतायें कि उस सम्बंध का ग्रहण किस के द्वारा होता है? प्रत्यक्षज्ञान ने जिसे जाना उसका सम्बंध है प्रत्यक्ष के साथ, इस सम्बंध का ग्रहण करने वाला कौन है? विचार करो। अगर कहो कि प्रत्यक्ष और विषय के सम्बंध को जानने वाला दूसरा प्रत्यक्ष है तो उसका भी सम्बंध कौन जाने? तीसरा। यों अनवस्था दोष लगेगा। तो यहाँ विचार यह चल रहा है कि प्रत्यक्ष के विषय का सम्बन्ध ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है, वह स्वयं स्वसम्बेदन सिद्ध है। सम्बंध तो है, विषयविषयी भाव तो है। अगर विषयविषयी भाव न हो तो प्रत्यक्ष अपने इस ही विषय को ग्रहण कर रहा है, यह निश्चय न बन सकेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय के साथ यदि सम्बंध नहीं याने असम्बंध से जान लिया तो कोईसा भी एक प्रत्यक्ष सर्वदेश सर्व काल के पदार्थों को क्यों नहीं जान सकता? उन्हें भी जानने लगे। फिर कौन रोकेगा? इसलिए सम्बंध जानना तो आवश्यक है, पर उस सम्बंध को किसी ज्ञान से ग्रहण किया जाये तब ही प्रत्यक्ष उसे जान सकेगा, यह बात नहीं है। वह तो स्वसंवेदन सिद्ध है।

प्रत्यक्षज्ञान के विषय की प्रत्यक्ष संवेदनसिद्धता की तरह तर्कज्ञान के विषय को तर्कसंवेदनसिद्धता होने से तर्कज्ञान की निर्बाध प्रमाणता—स्वसम्बेदन को न मानकर और ऐसी हठ करने पर कि प्रत्यक्ष प्रमाण से जिस विषय को जाना है उस विषय के साथ प्रत्यक्ष के सम्बन्ध को कौन जानता है? तो इसका उत्तर देने पर अनेक दोष हैं। यदि अन्य प्रत्यक्ष जानता है तो अनवस्था दोष हो जायेगा। यदि अनुमान से उस सम्बन्ध को ग्रहण किया जाये तो भी अवस्था दोष आता है। यदि यहाँ कहा जाये कि प्रत्यक्ष के विषय का सम्बन्ध है उसका ज्ञान स्वयं अपने प्रत्यक्ष के स्वरूप में प्रतिष्ठित हो रहा है और उसी प्रकार सम्बन्ध की कल्पना करती हुई

प्रतीति होती है तो यह भी नहीं बनता। याने कोई भी प्रत्यक्ष स्वयं अपने आप तो सम्बन्ध को नहीं जान रहा याने उस सम्बन्ध को अलग से जानने की आवश्यकता ही नहीं है। वह तो स्वसम्बेदन सिद्ध है। यह घट है, यह पुस्तक है आदिक प्रत्याकारक ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा स्वयं हो रहा है। इसमें सम्बन्ध तो नहीं प्रतिभासित किया जाता। सो स्वसम्बेदन सिद्ध होने से उस सम्बन्ध का ग्रहण कराने के लिये जिस ही प्रत्यक्ष की बात कहना युक्त नहीं। दूसरे प्रत्यक्ष को ग्रहण करे तो अनवस्था है और कोई कहे कि अनुमान से प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष के विषय के सम्बन्ध को ग्रहण करना बन जायेगा, सो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि उस अनुमान की भी तो स्थिति प्रत्यक्ष के आधीन है। फिर उस प्रत्यक्ष का सम्बंध बनावे वह अनुमान में बनेगा, वह प्रत्यक्ष के आधीन है। फिर अन्य प्रत्यक्ष के विषय का सम्बंध बनावे तो यों अनवस्था दोष होगा।

वास्तविकता यह है कि प्रत्यक्ष अपने विषयभूत अर्थ को अपने ही स्वसम्बेदन में सिद्ध होता हुआ जानता है अर्थात् अपने ही द्वारा योग्य अर्थ का ज्ञान करा देना, बस यह ही सम्बंध ग्रहण है प्रत्यक्ष में और इससे फिर कोई अतीन्द्रिय सम्बन्ध ही तो सिद्ध हुआ। जिसको इन्द्रिय द्वारा नहीं बताया जा सकता। प्रत्यक्ष के ही स्वयं के स्वरूप से सिद्ध है। तो इस अतीन्द्रिय सम्बंध का ही नाम क्षयोपशम है। अपने अर्थ को विषय को जानने का जो स्वसंवेदन चल रहा है उसका कारण क्या है? लब्धिरूप अतीन्द्रिय सम्बंध है, उसी का नाम योग्यता है। तो जैसे इस क्षयोपशमरूप योग्यता के द्वारा प्रत्यक्षज्ञान स्वयं सम्बंध ग्रहण करता है याने जानता है, इस प्रकार क्षयोपशमरूप योग्यता के द्वारा तर्कज्ञान भी अपने विषय का संवेदन करता है। तो प्रत्यक्षज्ञान जैसे विषयभूत पदार्थ को जानने में स्वतंत्र है, हाँ उत्पत्ति होने में इन्द्रिय आदिक की अपेक्षा होती है। इसी प्रकार तर्कज्ञान भी अपनी व्यासि सम्बंध को ग्रहण करने में स्वतंत्र है। हाँ उसकी उत्पत्ति प्रत्यक्ष, स्मरण प्रत्यभिज्ञान से हुआ करती है। प्रत्यक्ष प्रमाण अपने विषय में सम्बंध के ग्रहण की अपेक्षा नहीं रखता और निरपेक्ष होकर प्रवृत्ति करता है अर्थात् अपने विषय को चाहे जब स्वयं जान लेते हैं, इसमें कारण योग्यता है। इस योग्यता के मिलने पर यह इन्द्रियजन्य ज्ञान सीधे पदार्थों को स्पष्ट जानता है।

अनुमान ज्ञान को भी अनुमेयज्ञसि में परापेक्षता, मात्र अनुमान प्रमाण की उत्पत्ति में परापेक्षता—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि देखो जैसे तर्क को अपने विषय के सम्बंध के ग्रहण की अपेक्षा करने की आवश्यकता तो नहीं बतायी तो ऐसे ही अनुमान प्रमाण भी अपने ही आवरण के क्षयोपशम के कारण अपने विषय को जान ले, फिर अनुमान के विषय का सम्बंध ग्रहण करने के लिए याने साध्य-साधन के सम्बंध को ग्रहण करने के लिए तर्कज्ञान मानने की जरूरत क्या रही? इसके उत्तर में कहते हैं कि शंकाकार का कहना तभी तक सुन्दर है जब तक उस पर विचार नहीं किया जा रहा। वास्तविकता यह है कि अनुमान प्रमाण भी अपने अनुमेय अर्थ को जानने के लिए अपनी योग्यता से निरपेक्ष होकर जानता है, पर अनुमान का विषय साध्य-साधन के सम्बंध को ग्रहण करना तो नहीं, केवल साधन देखकर साध्य का ज्ञान करना भर है, पर साधन देखकर साध्य का ज्ञान करने की बात तब ही बन पाती है जब साध्यसाधन व्यासि का निश्चय हो। पर साध्य-साधन व्यासि का निश्चय करना अनुमान का विषय नहीं, तर्कज्ञान का विषय है। हाँ साध्य का ज्ञान करना अनुमान का विषय है और वह अनुमानावरण के क्षयोपशमरूप योग्यता से हो जाता है, लेकिन उस अनुमान की उत्पत्ति तो साध्य-साधन के सम्बंध को ग्रहण करने की अपेक्षा बिना नहीं होती। कोई भी पुरुष जिसने साध्य-साधन का सम्बन्ध

ग्रहण नहीं किया उसको कभी भी अनुमान की उत्पत्ति नहीं बनती। सो अनुमान की उत्पत्ति होनेपर अनुमान द्वारा अनुमेय अर्थ का स्वतंत्रता से ज्ञान हो जाता है, लेकिन अनुमान की उत्पत्ति स्वतंत्र नहीं है। कौन प्रमाण किस प्रमाणपूर्वक उत्पन्न होता है, इसका ज्ञान स्वयं इस ही सूत्र में बताये गए मतिज्ञान के विशेषों के क्रम को देखकर परखा जाता है।

इस सूत्र में क्रम यह रखा गया है मति अर्थात् सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष स्मृति, प्रत्यभिज्ञान तर्क, और अनुमान उत्तर उत्तर के ज्ञान पूर्व पूर्वक होते हैं, यह क्रम सूत्र में कहे गए क्रम में पड़ा हुआ है। जैसे स्मरणज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है, पहले प्रत्यक्ष से जाना हो उस ही का तो स्मरण बना करता है। प्रत्यभिज्ञान प्रमाण प्रत्यक्ष और स्मरणपूर्वक होता है। किसी का प्रत्यक्ष किया था, उसका स्मरण हुआ और वर्तमान में कुछ प्रत्यक्ष किया जा रहा तो वर्तमान के प्रत्यक्ष के विषय का स्मरण के विषय के साथ सम्बन्ध जोड़ने को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। तर्कज्ञान मति स्मृति, और प्रत्यभिज्ञानपूर्वक होता है और अनुमान ज्ञान मति स्मृति प्रत्यभिज्ञान और तर्कज्ञानपूर्वक होता है। तो अनुमान में जो व्याप्ति का सम्बन्ध है उसके ग्रहण की तो जरूरत है, पर तर्क के विषय के सम्बन्ध को ग्रहण करने की जरूरत नहीं। वह उस ही ज्ञान के द्वारा स्वसम्वेदन से सिद्ध हो जाता है।

तर्क की प्रमाणता के विषय में कुछ शङ्काओं का समाधान—यहाँ शङ्काकार कहता है कि तर्क तो प्रमाण के विषय का शोधक है। वह स्वयं प्रमाण नहीं है। प्रमाण के विषय का शोधक का अर्थ यह है कि जो अनुमान प्रमाण का विषय बनता है उस विषय का मार्ग साफ कराने वाला है। कहीं तर्क स्वयं प्रमाण न बन जायेगा—इस शङ्का के समाधान में कहते हैं कि यह भी बड़े गजब की बात कहीं जा रही है, प्रमाण के विषय में बुद्धि होना वह बात अप्रमाण से कैसे बनेगी? यदि प्रमाण के विषय की बुद्धि अप्रमाण कर दे तो फिर मिथ्याज्ञान से भी प्रमाण के विषय की शुद्धि बन जाना चाहिए। इस पर शङ्काकार कहता है कि यह कोई प्रसंग नहीं है। बात यह है कि जैसे संशयित पदार्थों में प्रमाणों की प्रवृत्ति निर्णय के लिए होती है उसी प्रकार तर्कित पदार्थों में भी प्रमाणों की प्रवृत्ति निर्णय के लिए होती है। जब कभी किसी विषय में संदेह हो जाता है कि यह सीप है या चाँदी या अन्य कुछ तो संशयज्ञान बन जाने पर अब उसमें दिमाग चलेगा, बुद्धि लगेगी, ज्ञान प्रमाण की प्रवृत्ति बनेगी। तो संशयित अर्थ में जो प्रमाण की प्रवृत्ति बनती है वह एक निर्णय के लिए ही तो बनती है, ताकि एक वास्तविक निर्णय बन जाये कि है क्या वस्तु? ऐसे ही जो तर्क के विषय हैं और जिन विषयों में अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प उठ रहे हैं, उसमें प्रमाणों की प्रवृत्ति होती है और निर्णय के लिए होती है। इससे तर्क कोई स्वतंत्र प्रमाण नहीं है, वह तो केवल प्रमाण के विषय का शोधक है।

इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि संशयित पदार्थों का दृष्टान्त देकर यह सिद्ध करना कि तर्कित पदार्थों में भी प्रमाणों की प्रवृत्ति निर्णय के लिए होती है। तो इसके मायने यह हुए कि संशयज्ञान प्रमाण के विषय का साधक है, क्योंकि संशय हुआ। उसी में दिमाग लगाकर एक निर्णय बनाया तो उस प्रमाण और निर्णय होने का मूल आधार तो संशय रहा। तो यो संशय प्रमाण के अर्थ का शोधक बना, यह बात सिद्ध हो गई। संशयज्ञान अप्रमाणता के लिए नहीं रहा, किन्तु वह तो प्रमाण के अर्थ का साधक बन गया शङ्काकार के इस

मंतव्य में। तो जब इस तरह संशयित ज्ञानों में प्रमाण की प्रवृत्ति होती है और यों संशयज्ञान प्रमाण का साधक बन गया, ऐसे ही तर्क को भी प्रमाण मान लेना चाहिए, क्योंकि वह तो प्रमाण का शोधक है। जैसे अप्रमाणपने से संशयज्ञान की व्यवस्था होना मानते, इसी प्रकार प्रमाण का साधक तर्कज्ञान है तो उसे भी प्रमाण मान लें, क्योंकि अब तो तर्क को संशय की जाति वाला ज्ञान रख दिया, क्योंकि उसके लिए दृष्टान्त संशयज्ञान का बताया। और फिर संशय से तर्क जुदा हो गया, क्योंकि स्वयं वैशेषिकों ने यह माना कि मिथ्या ज्ञान के तीन भेद हैं—संशय, विपर्यय और तर्क। तो अब और कितने पदार्थ माने जायें? पदार्थों की कोई संख्या की व्यवस्था ही न रहेगी। अन्य-अन्य प्रकार से पदार्थों की संख्या बन गई, क्योंकि पदार्थों में तर्क को गिनते नहीं और तर्क है संशय की जाति का और किसी प्रकरण में शङ्खाकार ने तर्क को संशय से जुदा लिखा तो एक तर्क भी पदार्थ बन गया ना, और-और भी बने। तो इससे सारी व्यवस्था रद्द हो जाती है। तो ऐसी उलझन दोष मिथ्या जालों से बचने के लिए सीधा-सादा सिद्धान्त मान लेना चाहिए कि तर्कज्ञान प्रमाण है, क्योंकि वह प्रमाण करने योग्य कार्य का करने वाला है। प्रमाण का फल है प्रमाण से निर्णय किया और उस निर्णय के अनुसार त्याग ग्रहण उपेक्षा आदिक की प्रवृत्ति की तो इस विषय में यह एक अनुमान प्रयोग है कि तर्कज्ञान प्रमाण है, क्योंकि प्रमाण से जो कर्तव्य है उसे करने वाला है। जैसे प्रत्यक्ष अनुमान आदिक पदार्थ। प्रमाण तो कर्तव्य के प्रत्यक्ष का साधन है और उसका करने वाला तर्कज्ञान है, यह प्रसिद्ध ही है। तो इसलिए हेतु असिद्ध न रहा और इस हेतु में अनैकांतिक दोष भी नहीं, क्योंकि जो प्रमाण नहीं हैं उनमें कर्तव्यकारिता भी नहीं है। अन्य प्रमेय घट पट आदिक जो अचेतन हैं और, संशय आदिक जिन्हें प्रमाण के विषय का शोधक कह रहे हो, ये प्रमाण के विषय के साधक नहीं हैं क्योंकि विरोध है। घट पट आदिक तो प्रमाण से रहित ही हैं और संशय आदिक प्रमाणों से विपरीत हैं। तो इससे प्रमाण का कर्तव्य भी किया नहीं बनती। इस कारण तर्क को अगर ऐसा साधक मानना चाहते हो कि वह प्रमाण के विषय का साधक है तो उसको इसका प्रमाणपना निश्चित मान लेना चाहिए।

प्रमाणानुग्राहक होने से तर्क में प्रमाणता की सिद्धि—अब और भी तर्क के विषय में प्रमाणता की बात सुनो। तर्कज्ञान भले प्रकार प्रमाण है, क्योंकि वह उसी प्रकार ही अनुग्राहक होता है। जो प्रमाणों का अनुग्राहक है वह प्रमाण है। तर्कज्ञान बिना अनुमान प्रमाण बनता नहीं। यों तर्कज्ञान अनुमान प्रमाण का अनुग्राहक है, इस कारण तर्कज्ञान प्रमाण है। तो जिस प्रकार का अनुग्राहकपना तर्क में देखा जा रहा, प्रमाण में देखा जा रहा वह अनुग्राहकता प्रमाणाभासों में नहीं होती। तो यह अनुमान और प्रत्यक्ष जैसे अनुग्राहक है, प्रमाण है, ऐसे ही अनुमान पर कृपा करने वाला तर्कज्ञान भी अनुग्राहक है और प्रमाण है। जिस अर्थ में जो प्रमाण पहले से ही प्रवृत्ति कर रहा है उसी विषय में अन्य प्रमाण को प्रवृत्ति हो जाये वही तो अनुग्राहकता कहलाती है। तो ऐसी अनुग्राहकता पहले से निर्णय किए हुए पदार्थ की अधिक दृढ़ता करा देने से कहा जाता है। जैसे तर्कज्ञान पहले प्रवृत्त हो रहा, अब उस सम्बंध में अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति चलने लगी तो तर्कज्ञान ने अनुमान प्रमाण में जान दे दी अर्थात् अनुमान प्रमाण सही ही है, मिथ्या नहीं है, इसका जताने वाला बन गया तर्कज्ञान। उत्तर ज्ञान प्रमाणभूत है, ऐसा निरखने से अपने आप सिद्ध होता है कि जिस प्रमाण के कारण यह उत्तर ज्ञान हुआ वह भी

प्रमाणभूत है, क्योंकि पहले प्रमाण ने उत्तरप्रमाण में दृढ़ता ला दी। तो जो अनुमान प्रमाण को बहुत ठीक सिद्ध करना चाहता है तो उस पर अनुग्रह करने वाला तर्क प्रमाण है, उसे भी प्रमाण मानना चाहिए।

अव्यवहित स्वार्थ का निश्चयक होने से तर्क की प्रमाणता—अब यहाँ कोई ऐसी आशंका कर सकता है कि तर्कज्ञान अलग से प्रमाण तो हम नहीं मानते, किन्तु प्रमाण की सामग्री के भीतर आया हुआ मानते हैं और इस प्रकार से प्रमाण द्वारा निर्णय चले आ रहे हैं, इसलिए सब प्रमाण की सामग्री में तर्कज्ञान प्रतिष्ठित है और यह गौण प्रमाण है। जैसे वकील के पिता को लोग वकील कह देते हैं, अब पिता वकालत पढ़ा है या नहीं, यह बात अलग है। नहीं भी पढ़ा है वकालत, फिर भी वकील के पिता को वकील कहते हैं, एक ऐसा रिवाज है। तो ऐसे ही अनुमान का पिता है तर्कज्ञान, मायने साध्य-साधन के विषय का संबंध जब जान लेते तब प्रमाण की उत्पत्ति होती है, तो प्रमाण का जनक है, अनुमान का जनक है तर्कज्ञान। सो अनुमान प्रमाण के पिता तर्क को भी प्रमाण कह दिया जाता है। कहों वह तर्क स्वतंत्र न्यारा पदार्थ नहीं है। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यह बात तो बिना विचारे ही ठीक लग रही है। उस पर वस्तुतः विचार करें तो तर्क स्वयं प्रमाण है, यह सिद्ध हो जायेगा। उसका अनुमान प्रयोग यों है कि तर्कज्ञान प्रमाण है, क्योंकि अव्यवहित रूप से स्वार्थ का निश्चय करता है, और परम्परा से वह प्रकृष्ट उपकारक है। जैसे कि प्रत्यक्षज्ञान प्रमाण है वह क्यों है कि एक तो साक्षात् स्वार्थ का निश्चय कराता है, अव्यवहित याने सीधा प्रत्यक्ष का परिचय बनता है।

साक्षात् व परम्परया फलवान् होने से तर्क की प्रमाणता—दूसरी बात यह है कि जैसे प्रत्यक्षज्ञान का फल साक्षात् अज्ञाननिवृत्ति व परम्परा से होने वाला त्याग, ग्रहण, उपेक्षा है, अतः प्रमाण है। इसी प्रकार तो जिस तरह प्रत्यक्षप्रमाण बन गया उन्हीं कारणों से यह तर्क ज्ञान भी प्रमाण कहलाता है, क्योंकि तर्कज्ञान साक्षात् तो अपने विषय का ज्ञान करा रहा, साध्य और साधन के अविनाभाव सम्बन्ध का बोध करा रहा, अज्ञाननिवृत्ति हो गई, यह तो हुआ साक्षात् फल। अपने विषय का निश्चयरूप, और परम्परया फल है कि उसे से स्वार्थानुमान बना, हेय में हेयबुद्धि बनी, उपादेय में ग्रहणबुद्धि बनी। उपेक्षनीय तत्त्व में उपेक्ष्यबुद्धि बनी। इस तरह तर्कज्ञान प्रसिद्ध हो रहा है, सबके काम आ रहा है। इस कारण तर्कज्ञान प्रमाण है, क्योंकि वह साधकतम् है। पदार्थ को निश्चय कराने में एकमात्र साधन बन रहा है। जैसे कि अनुमान ज्ञान और अन्य ज्ञान प्रत्येक ज्ञान का साक्षात् फल है। अपने विषयभूत पदार्थ के विषय में अज्ञान को हटा देना और परम्परया फल है पुरुषार्थ की प्रवृत्ति बनना और उसके अनुसार छोड़ने योग्य हो तो छोड़ना, ग्रहण करने योग्य हो तो ग्रहण करना। जैसे जिस मार्ग से जा रहे उसी में तेज धुवाँ दिखा तो अग्नि का अनुमान किया, उससे हट गए, कभी जरूरत थी आग की, जाड़े के दिन थे, धुवाँ दिखा तो उस ओर चले गए, अग्नि है, तापना चाहिए। तो तर्क से जानकर पुरुषार्थ की प्रवृत्ति होती है। त्यागने योग्य को त्यागता है, ग्रहण करने योग्य को ग्रहण करता है। तो अनेक कारणों से दृष्टान्तपूर्वक यह प्रसिद्ध किया गया कि तर्कज्ञान प्रमाण है।

अनुमानप्रमाण की प्रमाणता का प्रतिपादन—अब अनुमान प्रमाण की प्रमाणता के विषय में कहते हैं। साधन से साध्य का ज्ञान होना, इसे अनुमान कहते हैं। अनुमानज्ञान प्रधानरूप से साध्य की विधि करने में चरितार्थ है और गौणरूप से साध्य से विरुद्ध सब बातों के निषेध करने में चरितार्थ है तथा इसके साथ यह भी समझना कि कोई अनुमान तो उपलब्धिहेतु द्वारा विधि सिद्ध करता है, कोई अनुमान उपलब्धिहेतु द्वारा निषेध सिद्ध करता

है, कोई अनुमान अनुपलब्धिहेतु द्वारा साध्य की विधि सिद्ध करता है और कोई अनुमान अनुपलब्धि द्वारा निषेध सिद्ध करता है। इस तरह मूल में चार प्रकार के अनुमान होते हैं। इन सब अनुमानों में साध्य और साधन ये सही लक्षण वाले होने ही चाहिएँ। साधन का लक्षण है अन्यथानुपपत्ति अर्थात् साध्य के बिना साधन का होना। ऐसी यदि व्याप्ति पायी जाती है तो वह साधन सही साधन है, और साध्य होना चाहिए शक्य, अभिप्रेय और अप्रसिद्ध। अनुमान प्रमाण से जिस बात को सिद्ध करना, है उसको साध्य कहते हैं। तो साध्य शक्य है, जो सम्भव है, सिद्ध करने योग्य है वह तो शक्य कहलाता है। सो साध्य शक्य होना ही चाहिए। कोई अशक्य बात को साध्य करने लगे तो उससे लाभ क्या होता है? सिद्ध ही नहीं हो सकता।

दूसरी बात साध्य को इष्ट होना चाहिए। क्या कोई अपनी अनिष्टसिद्धि के लिए भी अनुमान करता है, याने जो अपने सिद्धान्त से विरुद्ध है, इष्ट नहीं है उसके लिए साध्य करे, ऐसा कोई नहीं होता। अन्यथा उसके लिए तो विरोध हो, गया और दूसरे वादी के लिए वह भूषण बन गया। तो साध्य अभिप्रेत होता चाहिए। साथ ही साध्य अप्रसिद्ध होना चाहिए। जो प्रसिद्ध ही है, प्रत्यक्षसिद्ध ही है, ऐसी बात को सिद्ध करने के लिए अनुमान की क्या आवश्यकता है? अग्नि सामने है, गर्म है। अब अग्नि को गर्म सिद्ध करने के लिए कोई प्रलाप करें, युक्तियाँ दे तो उसका क्या अर्थ है? तो साध्य शक्य, इष्ट और अप्रसिद्ध होना चाहिए।

अनुमान ज्ञान का दूसरा नाम आभिनिबोध है। इस आभिनिबोध का क्या अर्थ है? अभि उपसर्ग है, नि यह भी उपसर्ग है और बोध यह एक धातु निर्मित शब्द है, जिसका अर्थ हुआ कि साध्य के अभिमुख होकर साधन के द्वारा जो नियत बोध होता है उसे आभिनिबोध कहते हैं। अभि मायने अभिमुख, नि मायने नियत और बोध मायने ज्ञान। साधन का ज्ञान अनुमान को बनाने वाला होता है। केवल साधनभूत पदार्थ के सद्भावमात्र से साध्य का ज्ञान नहीं होता, किन्तु साधन का कोई ज्ञान करे और साधन और साध्य का अविनाभाव सम्बन्ध समझे उसको ही साधन से साध्य का ज्ञान हुआ करता है। निष्कर्ष यह है कि साधन का तो लक्षण है साध्य का अभाव होने पर जो न हो ऐसे लक्षण वाला हेतु साधन कहलाता है और ऐसे साधन से शक्य इष्ट अप्रसिद्ध साध्य का ज्ञान होता है, यह अनुमान है। तो अनुमान प्रमाण में साध्य के ज्ञान की अभिमुखता है और उसमें नियत सम्बंधित ज्ञान बन गया है और वह सब हेतु के द्वारा बना हैं, इस प्रकार ऐसे ज्ञान को आभिनिबोध ज्ञान कहते हैं।

आभिनिबोधिक सामान्य व आभिनिबोधिक विशेष का कथन—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि आभिनिबोध ज्ञान तो सामान्य मतिज्ञान का नाम दिया गया है सिद्धान्त ग्रन्थों में। जैसे ज्ञान ५ प्रकार के होते हैं—आभिनिबोधिक ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। अनेक सिद्धान्त ग्रन्थों में मतिज्ञान के एक जैसे आभिनिबोधिक ज्ञान शब्द दिया है। षट्पंडागम सूत्र में भी आभिनिबोधिक शब्द दिया है और यहाँ कहा जा रहा है अनुमान को। अनुमान तो याने स्वार्थानुमान जो यहाँ आभिनिबोधिक शब्द से कहा जा रहा है वह तो मतिज्ञान सामान्य का याने आभिनिबोधिक ज्ञान का एक विशेष है, फिर यहाँ आभिनिबोधिक शब्द क्यों दिया? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि प्रकरण के विशेष से और अन्य शब्द चूंकि और दिए गए है, इससे सामान्य शब्द का विशेष अर्थ में भी प्रवृत्ति हो जाती है। इस सूत्र में मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, इतने शब्द दिए हैं और उस ही धारा में आभिनिबोध शब्द दिया है, जिसका यह अर्थ होता है कि ये ५ ज्ञान मतिज्ञान के

विशेष हैं याने आभिनिबोध ज्ञान के विशेष हैं। इससे यह समझना कि जिसके ३३६ भेद बताये गए हैं वह आभिनिबोधक ज्ञान तो सामान्य मतिज्ञान जानना चाहिए। और जब अवग्रह आदिक मतिज्ञान के विशेषों को कहा जाये, स्मृति आदिक कहा जाये तब पृथक् से जो आभिनिबोधिक शब्द दिया जाये तो उससे स्वार्थानुमान अर्थ लेना चाहिए। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रिय और मन के द्वारा नियमित कुछ साध्य अर्थ के प्रति अभिमुख ज्ञान का आभिनिबोधिक नाम है। यह तो हुआ एक सामान्य अर्थ और साधन की अपेक्षा रखकर मन के द्वारा जो साध्य अर्थ के अभिमुख होकर नियमित परिचय में आभिनिबोधिक है यह हुआ स्वार्थानुमान का अर्थ।

शंकाकार द्वारा हेतु का लक्षण अन्यथानुपन्नत्व न मानकर त्रैरूप्य मानने का प्रस्ताव—अब यहाँ क्षणिकवादी शंका करते हैं कि अभी जो हेतु का लक्षण कहा गया है कि अन्यथानुपपत्ति जिसमें हो वह साधन है और ऐसे साधन से साध्य का ज्ञान होना अनुमान है और इस ही को आभिनिबोध शब्द से कहा गया है, यह अर्थ सही नहीं है। कारण किं लिंग का याने साधन का लक्षण अन्यथानुपपत्ति नहीं है, किन्तु उसके तीन रूप हुआ करते हैं—पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति। याने जो हेतु पक्ष में रहे उसे कहते हैं पक्षसत्त्व लक्षण वाला हेतु, जो हेतु सपक्ष में रहे उसे कहते हैं सपक्षसत्त्व लक्षण वाला हेतु, जो हेतु विपक्ष में न रहे उसे कहते हैं विपक्षव्यावृत्ति लक्षण वाला हेतु, याने जैसे एक अनुमान प्रयोग किया कि यहाँ पर्वत में अग्नि है धूम होने से। जहाँ-जहाँ धूम होता वहाँ अग्नि है, जैसे रसोईघर। और जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धूम नहीं होता, जैसे तालाब। तो इस प्रयोग में पक्ष तो है पर्वत, सपक्ष है रसोईघर और विपक्ष है तालाब। तो धूम पर्वत में है, धूम रसोईघर में है और धूम तालाब में नहीं है, तालाब विपक्ष है, उसमें नहीं है। तो ऐसे तीन रूप मिल जायें, उस हेतु से साध्य का ज्ञान होना अनुमान कहलाता है।

अन्यथानुपन्नत्व न होने पर त्रैरूप्य के सद्वाव में भी हेतुपना न होने से त्रिरूपता के हेतुक्षणत्व का निराकरण—अब उक्त शङ्का का समाधान देते हैं कि साधन का, त्रिरूप लक्षण बनाना युक्त नहीं है, क्योंकि लक्षण वह बनाया जाता है जिसमें कोई प्रकार का दोष न आये। मगर यह लक्षण तो हेत्वाभास में भी सम्भव है और सच्चा हेतु हो, कहो और उसमें घटित भी न हो, इस कारण से त्रिरूपता साधन का लक्षण नहीं है। इसका स्पष्टीकरण यह है कि देखो एक यह अनुमान बनाया जाये कि बुद्ध असर्वज्ञ है, क्योंकि वक्ता है, पुरुष है। तो ऐसा कोई अनुमान बनाये तो देखो वक्तापन, पुरुषपन बुद्ध में है ना, तो पक्षसत्त्व मिल गया और अनेक लोक में है ना वक्तापन और पुरुषपन। गस्तागीर हो, कोई हो तो लो सपक्षसत्त्व मिल गया और जो असर्वज्ञ नहीं है याने सर्वज्ञ है उसमें वक्तापन नहीं है जैसे मुक्त जीव, तो ऐसा हेतु सही तो नहीं मान सकता शङ्काकार, क्योंकि उसके ही इष्ट का घात हो जायेगा और यदि यह कहो कि पक्ष तो मिल गया, सपक्ष सत्त्व भी मिल गया, मगर विपक्ष व्यावृत्ति का संदेह है तो उसका अर्थ यह ही तो हुआ कि साध्य जहाँ न हो वहाँ हेतु व्यावृत्ति हो जाये तब हेतु है, इसका ही भाव है कि अन्यथानुपपत्ति हो तो हेतु है यदि त्रैरूपमात्र हेतु का लक्षण कहते हो तब तो सदोष है और कहो कि विशिष्ट त्रैरूप्य हो तो विशिष्ट का अर्थ किया है अन्यथानुपपत्ति, अन्यथानुपपत्ति सहित हो तो तीनरूप मानने की आवश्यकता क्या? और अन्यथानुपपत्ति नहीं है तो तीन रूप भी तुम सिद्ध न कर सकोगे। सर्वज्ञ भी वक्ता हो सकता है। सशरीर परमात्मा की दिव्यध्वनि खिरती है तो इतना तो हो गया कि पक्ष धर्मत्व

हो, सपक्ष सत्त्व हो तो वह हेतु सही नहीं कहलाता। विशिष्ट विपक्षव्यावृत्ति हो तब हेतु सही है, उसी का अर्थ है कि अन्यथानुपपत्ति हो तब सही है। अब यह विषय अलग है कि अमुक सर्वज्ञ हो सकता या नहीं, उसका प्रमाण फिर उसके वचन याने शासन की मीमांसा पर निर्भर है। जहाँ पूर्वापर विरोध नहीं, युक्तियों पर विरोध नहीं, ऐसे वचन जिसके हों उसे कह सकते हैं कि यह सर्वज्ञ है, यह विषय अलग है, पर प्रसंगवश यह बात कहीं जा रही है कि अन्यथानुपपत्ति हो तब तो वह हेतु सही है और अन्यथानुपलब्धि नहीं तो वह हेतु सही नहीं हो सकता।

त्रिरूपता का सद्वाव होने पर, अन्यथानुपनत्व न होने पर हेतुत्व का प्रभाव तथा त्रिरूपता का अभाव होने पर भी अन्यथानुपनत्व होने से हेतुत्व का सद्वाव होने के कुछ उदाहरण—और भी दृष्टान्त देखिये जिससे त्रिरूपता भंग हो जाती है। जैसे कोई कहे कि यह बालक ब्राह्मण है, क्योंकि माता पिता ब्राह्मण हैं, लोकदृष्टि से बात, तो सही है, अनुमान ठीक है, मगर यहाँ पक्ष सत्त्व तो है ही नहीं याने पक्ष बनाया गया इस लड़के को और हेतु दिया गया माता पिता ब्राह्मण हैं, तो माता पिता का ब्राह्मणत्व लड़के में तो नहीं आया। माता पिता का ब्राह्मणत्व माता पिता में ही है। अच्छा और भी उदाहरण सुनो—एक अनुमान बनायें कि यह जीवित शरीर आत्मासहित है, क्योंकि श्वासोच्छ्वास आदिक होने से। तो अब यहाँ कोई ऐसी व्याप्ति करके दृष्टान्त ढूँढ़े कि जिस जिसमें श्वासोच्छ्वास होता है वह आत्मासहित होता है तो उदाहरण तुम क्या दोगे? जिसको उदाहरण में दोगे वह तो पक्ष में ही बना हुआ है, सभी जीवित शरीर आत्मासहित हैं। अब सपक्ष क्या मिलेगा? तो देखो सपक्षसत्त्व नहीं है फिर भी हेतु ठीक है। अच्छा एक ऐसा कोई दृष्टान्त दे, कहे कि कालूराम का गर्भस्थपुत्र काला है क्योंकि कालूराम का लड़का होने से। अब कालूराम के दो चार लड़के थे वे सब काले थे तो पक्ष में भी गया? सपक्ष भी मिला, मगर हेतु क्या सही है? क्या यह निर्णय है कि अबकी बार का लड़का काला ही होगा और वैसे पेट से तो सभी लड़के काले होते ही नहीं, चाम तो बाद में काला होता है। तो मतलब यह है कि त्रिरूपता हो तो क्या, न हो तो क्या? अगर साधन अन्यथानुपपत्ति लक्षण वाला है तब तो अनुमान सही है और साधन में अन्यथानुपपत्ति नहीं है तो साधन सही नहीं है।

अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोषों के होने से त्रैरूप्य में हेतुलक्षणत्व की असिद्धि—किसी पदार्थ के विषय में पहले तो सांख्यव्याप्ति प्रत्यक्ष होता है। इन्द्रिय और मन से कोई पदार्थ परिचय बनता है। वह प्रत्यक्ष यदि धारणा तक चला गया तो धारणा हुए बाद फिर भविष्य में उसकी स्मृति बनी। भूतकाल में जो परिचय किया था उसको अब स्मरण हो रहा है और मति और स्मरण दोनों के बल पर प्रत्यभिज्ञान जगता है। अब यहाँ दो मतियों के बीच में स्मरण है—पहले जो अनुभव किया था वह भूतकाल में मतिज्ञान हुआ था और अब वर्तमान में उस का या उसके प्रतियोगी का प्रत्यक्ष हो रहा है वह। और उस बीच स्मरण चल रहा है तो ऐसा वर्तमान मति और भूत का स्मरण—इन दो ज्ञानों पूर्वक प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है। प्रत्यभिज्ञान जग गया, इसके मायने यह हैं कि धारणा और स्मृति उसकी दृढ़ है और तत्पूर्वक प्रत्यभिज्ञान बनाता है, ऐसा दृढ़ ज्ञान जिसके है वह पुरुष प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न करता है। प्रत्यभिज्ञान हुए बाद तर्कज्ञान होती है, क्योंकि तर्कज्ञान समस्त देश, समस्त काल विषयक साध्य-साधन का सम्बंध जानता है और तर्क हुए बाद फिर तर्कपूर्वक अनुमान बनता है अर्थात् साधन से साध्य का ज्ञान होता है, तो यहाँ साधन के स्वरूप की बात चल रही है। साधन कहलाता है वह जो साध्य

के अविनाभाव रूप से निश्चित हो । इसके विरोध में क्षणिकवादी यह कह रहे हैं कि साधन का लक्षण तो त्रिरूपता है—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति । उसके समाधान में यह सब कथन चल रहा है कि यह त्रिरूपता हेतु का लक्षण नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, ऐसा आता है । इसके अनेक उदाहरण दिए गए ।

पक्षधर्मत्व न होने पर भी अन्यथानुपपत्ति हेतु की समीचीनता—एक उदाहरण और भी देखिये—किसी ने अनुमान किया कि कल के दिन मंगलवार होगा, क्योंकि आज सोमवार होने से । तो हेतु तो है सोमवार होने से और पक्ष है कल, तो कल में सोमवार हेतु तो नहीं चलता है । पक्ष धर्मत्व तो रहा ही नहीं । तो पक्षधर्मत्व नहीं होता, लेकिन साध्य के अविनाभाव रूप से निश्चित हेतु हो वह वास्तविक साधन है । अब यहाँ शंकाकार पक्षधर्मत्व की रक्षा के लिए अनुमान का एक रूप बनाता है । तो देखो, जहां पक्षधर्मत्व नहीं दिखता, जैसे अनुमान बनाया कि कल मंगलवार होगा तो उसे यों बनाइये कि कल दुनिया में मंगलवार होगा अर्थात् दुनिया कल के दिन मंगलवार से सहित बनेगी, क्योंकि आज का दिन सोमवार से सहित है । तो लो दुनिया पक्ष हो गया और उसमें सोमवार सहितपना हेतु हो गया ।

समाधान यह है कि, इस तरह के शब्द का सोच विचारकर जबरदस्तीपना लादा जाये तब तो कुछ भी गलत-सलत अनुमान बन जायेगा । जैसे कोई यह बता दे कि धूम अग्नि वाला है धूमपना होने से तो पक्ष क्या है? धूम और उसमें धूमत्व हेतु चला गया तो इसका अर्थ ही क्या रहा? यह तो व्यभिचारी हेतु है । धूमहेतु में संयोग सम्बन्ध करके अग्नि तो नहीं है । दूसरी बात यह है कि ऐसा अनुमान प्रयोग करने से यह सब स्वभाव हेतु बन जायेगा । जो कार्य हेतु और अनुपलभ्म हेतु और बचा हुआ है वह भी इसी ढंग से पक्ष का स्वभाव या साध्य का स्वभाव बन जायेगा, तब तो हेतु भी कुछ न रहे । एक स्वभावहेतु रह गया । इससे जो संक्षिप्त सुगम निर्दोष लक्षण हो उससे मुख न मोड़ना चाहिए ।

अब यहाँ शंकाकार कहता है कि नियत हो रहा जो अन्यथानुपपत्ति सहितपना वह सम्बन्ध रूप व्यापक से व्याप्त हो रहा है, उस सम्बन्ध के न होने पर भी अन्यथानुपपत्ति माना जाये तब तो बड़े दोष आवेंगे, क्योंकि सम्बन्ध जहाँ नहीं है, ऐसे आकाश और पुष्प का या आत्मा और रूप का अन्यथानुपपत्ति बन बैठेगा, क्योंकि अन्यथानुपपत्ति को तो सम्बन्ध बिना मान डाला, और अगर सम्बन्ध मानते हो तो सम्बन्ध तो दो प्रकार के हैं—एक तादात्म्य और दूसरा तदुत्पत्ति । जहाँ तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं वहां कोई बात नहीं । तो यों व्यापक के बिना व्याप्त की स्थिति नहीं? तो जब तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं, सोमवार मंगलवार के बीच कोई सम्बन्ध नहीं और सम्बन्ध नहीं तो अन्यथानुपपत्ति नहीं । तो कोई भी हेतु न बना अलग । भावार्थ यह है कि सोमवार का होना यह गमक तब होता जब कि वह ज्ञायकहेतु होता और ज्ञायकहेतु तब होता जब उसमें अन्यथानुपपत्ति होती । और अन्यथानुपपत्ति तब ठहरती जब सम्बन्ध ठहरता, और सोमवार होनेरूप हेतु में सम्बन्ध तब ठहरता जब कि तादात्म्य या तदुत्पत्ति ऐसा कोई सम्बन्ध होता । तो जब ये बातें नहीं ठहर रहीं । व्यापक नहीं रह रहा तो व्याप्त कैसे रहेगा? इस प्रकार सोमवार का होना, साध्य का मंगल का ज्ञायक नहीं हो सकता ।

समाधान इसका यह है कि सम्बन्ध तो कोई संयोग को ही नहीं कहता है । यहाँ तो अन्यथानुपपत्ति का सम्बन्ध

है। सोमवार के हुए बिना मंगलवार नहीं आता, बस यही सम्बन्ध है। अनुमान तो सही है, पर पक्षधर्मत्व नहीं है, इसलिए हेतु का सीधा लक्षण मानना कि जो साध्य के बिना न हो और पाया जावे तो समझो कि साध्य जरूर है। जैसे अग्नि के बिना धुवां नहीं होता और धुवां मिल जाये तो समझो अग्नि जरूर है। इस तरह अनुमान का लक्षण सही है, और विशेष जानना हो तो परीक्षामुखसूत्र आदिक ग्रन्थों से समझना चाहिए। अनुमान एक प्रमाण है और उससे परलोक, स्वर्ग, आत्मा, धर्म मोक्षमार्ग आदिक सभी प्रायोजनिक तत्त्वों की सिद्धि होती है। तो साधन का लक्षण त्रैरूप्यपना नहीं सिद्ध होता। इसी प्रकार जो दार्शनिक हेतु का लक्षण पाँच्यरूप मानते हैं उनका भी कथन युक्त नहीं है, पांच्यरूप में जो दो रूप बढ़ाये गए हैं वह एक नासमझ जनों को समझाने के लिए है। उसकी कोई खास विशेषता नहीं है। वह तो समझाने का एक प्रकरण बढ़ाना है।

तथोपपत्ति व अन्यथानुपपत्ति लक्षण वाले हेतु से सम्बन्ध होने के कारण अर्थापत्ति संभव आदि के मानने की अनावश्यकता—अब यहाँ मीमांसक दर्शन वाला शंका करता है कि अर्थापत्ति भी तो एक न्यारा प्रमाण है और वह अस्पष्ट है। सो प्रत्यक्ष प्रमाणरूप नहीं, परोक्ष प्रमाण है। और जो इस सूत्र में परोक्ष प्रमाण बताया गया है प्रत्यक्ष, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता अभिनिबोध और इनके अतिरिक्त बताया जायेगा आगम तो इसमें अर्थापत्ति का अन्तर्भाव नहीं है। इससे अर्थापत्ति अवश्य माननी चाहिए। अर्थापत्ति प्रमाण से व्यवहार भी चल रहा है अर्थात् किसी बात को देखकर अन्य बात की समझ बनाया, यह अर्थापत्ति कहलाती है। प्रत्यक्ष आदिक किसी भी प्रमाण से भली प्रकार कोई पदार्थ जान ले। अब वह विपरीत नहीं हो रहा है। उससे दूसरे अदृष्ट अर्थ की कल्पना जग जाती है। उसी का नाम अर्थापत्ति प्रमाण है। प्रत्यक्ष से जो जान लिया और उससे अविनाभाव रूप से जो पदार्थ रहता है उसके द्वारा अदृष्ट अर्थ का ज्ञान बने यह तो है प्रत्यक्षपूर्वक अर्थापत्ति। जैसे किसी विधवा स्त्री का उदर बड़ा दिखा गर्मयोग्य तो उससे व्यभिचार दोष दृष्ट तो नहीं होता, मगर एक अर्थापत्ति द्वारा अदृष्ट अर्थ का ज्ञान कर लिया, इसी तरह अनेक बातें देखकर अनेक अदृष्ट की पहिचान बनती है वही तो अर्थापत्ति है। अनुमानपूर्वक भी अर्थापत्ति है। अनुमानपूर्वक भी अर्थापत्ति होती। सूर्य चन्द्रमा गति सहित हैं, क्योंकि वे एकदेश से अन्य देश को पहुंच जाया करते हैं। सूर्य चन्द्रमा गति शक्ति से सहित हैं, क्योंकि उनका गमन होता है। इस अनुमान से गमनशक्ति का, अतीन्द्रिय शक्ति का जो ज्ञान हुआ वह अर्थापत्ति से हुवा, ऐसे ही उपमानपूर्वक भी अर्थापत्ति होती। जैसे उपमान से तो जान लिया कि यह रोद्ध है गाय की तरह देखकर, अब उस रोद्ध में अतीन्द्रिय शक्ति का ज्ञान करना, यह अर्थापत्ति हो गई। शब्द अमुक अर्थ का प्रतिपादन करने की शक्ति रखता है, क्योंकि अर्थ के साथ सम्बन्धपना तब ही बनता है। तो यहाँ भी एक शब्द में प्रतिपादन की शक्ति का परिचय किया जा रहा है। तो यों अर्थापत्ति आगम प्रमाण हुआ करती है। ऐसा कहना चाहिए। अर्थापत्ति तो इतना प्रबल पुष्ट प्रमाण है कि वह अभाव के परिचय द्वारा भी अर्थापत्ति बनती है। जैसे देवदत्त कहीं बाहर ठहरा हुआ है, क्योंकि जीवित रहते संते इस घर में नहीं है। तो लो इस अनुमान में भी देवदत्त का बाहर रहने में अर्थापत्ति बनी।

समाधान—अर्थापत्ति को सिद्ध कर इतना परिश्रम करना व्यर्थ है, वह तो हेतु का ही रूपक है। तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति ये कोई तो साधन के रूप हैं और यह ही अर्थापत्ति में समझा गया है। इसी प्रकार कोई सम्भव आदिक ज्ञानों को भी बताने लगे तो ये सबके सब एक अविनाभावी हेतु में ही सम्भव हो जाते हैं, इस

कारण परोक्ष, प्रमाण दो प्रकार के कहे गए हैं—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान । और मतिज्ञान के ये ५ भेद हैं—सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान । इन्हीं में प्रतिभा, स्वानुभूति, स्मृति, प्रज्ञा आदिक सबका संग्रह बन जाता है । ये भेद तो उपलक्षण रूप हैं । इन्हीं की जाति के जो और और भी ज्ञान होते हों वे सब इन्हीं में हीं सम्मिलित हैं । इस तरह “आद्ये परोक्षम्” इस सूत्र में जिन दो ज्ञानों को परोक्ष कहा था, इनमें से प्रथम मतिज्ञान के मूल भेद का वर्णन किया गया है ।

॥ मोक्षशास्त्र प्रवचन सप्तम भाग समाप्त ॥